प्रकरण : १

कला एवं उसमें निहित तत्त्व रस

१.१ : कला, कला के प्रकार, ललित कला के प्रकार।

१.२ : ललित कलाओं में अनिवार्य तत्त्व रस।

१.१ : कला, कला के प्रकार, ललित कला के प्रकार

१.१.१ : कला :-

- **पाश्चात्य मतानुसार कला :**

पाश्चात्य राष्ट्रों में कला प्राचीन काल से समाज से संलग्न रही। ‘कला’ संज्ञा की उत्पत्ति यूनानी शब्द ‘क्लोस’ शब्द से मानी जाती है, जो ‘सुन्दर’ का व्यापक अर्थ था। जर्मन भाषा में ‘Arts’ को ‘Kunst’ शब्द का पर्याय माना जाता है, जिसका अर्थ है : निपुण, प्रवीण, कुशल।[१] लैटिन धातु ‘Ars’ में से यूरोपीय भाषाओं का शब्द ‘Arts’ बना, जिसका संबंध विशिष्ट प्रकार की दक्षता (ज्ञान, कौशल्य) से बताया गया है, जैसे कि बढ़ईगिरी, लोहारगिरी, व्याकरण, तर्कशास्त्र, जादू, ज्योतिष, शिल्प, काव्य, शल्यचिकित्सा, इत्यादि।[२]

विभिन्न पाश्चात्य विद्वानों के कला संबंधी अभिप्राय का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है :

सोफीवाद को परिपूर्णता तक पहुँचाने वाले महान तत्त्वज्ञानी सोक्रेटीस ने संवेदनों का वहन करने वाली प्रवृत्ति को कला माना तथा कला की उपयोगिता को ही उसका सौन्दर्य माना। उन्होंने कला को प्रकृति का अनुकरण कहा, लेकिन भौतिक वस्तुओं की अपूर्णता की पूर्ति कला से होती है, ऐसा भी बताया। प्रकृति के अनुकरण के साथ आंतरिक अनुभूतिओं के समावेशन से कला-निर्मिति होती है ऐसा उनका कहना है।

विख्यात तत्त्वज्ञानी प्लेटो ने कला के विषय में कहा है, कि वह प्रकृति का अनुसरण है, अनुकरण का भी अनुकरण है। उन्होंने कला को मूलभूत पदार्थ से काफ़ी भिन्न, दूर माना है।

प्लेटो के शिष्य एरिस्टोटल ने कला को प्रकृति के अनुकरण तथा कल्पनाशक्ति दोनों का समन्वय माना। उन्होंने अनुकरण को स्वाभाविक मानवीय प्रवृत्ति बताई। उनके मतानुसार कला सिर्फ आनंद-प्रमोद का साधन न होकर भावाभिव्यक्ति का उत्कृष्ट माध्यम है; जो आत्मशुद्धि, समतुला, नीति बद्धता, इत्यादि के शिक्षण का भी माध्यम बनती है।

लीओनार्डो डा विन्ची के मतानुसार कला प्रकृति तथा वास्तविकता का दर्पण है। उन्होंने कला का मुख्य उद्देश्य इश्वर के प्रति प्रेम भावना उत्पन्न करना बताया और कलाकार को धर्मगुरु के समकक्ष माना। उनके मतानुसार कलाकार द्वारा सर्जित कला में उसके द्वारा अवलोकित आत्मा प्रकट होता है।

'एस्थेटिक्स' (aesthetics) संज्ञा का सर्वप्रथम प्रयोग जर्मन फ़िलसुफ़ बोम गार्टन ने किया। उन्होंने 'सु-रूचि' तथा 'कु-रूचि' - ऐसी दो संज्ञाओं का प्रयोग करते हुए उन्हें 'सु-कला' तथा 'कु-कला' से संबंधित बताया। उन्होंने कला को कल्पना, भावना-संवेदना, अगम्यता तथा चमत्कारिक तत्त्व से संबंधित बताया है।[३]

सौन्दर्य के विषय में विशुद्ध आध्यात्मिक दृष्टिकोण रखने वाले प्रथम जर्मन दार्शनिक के रूप में कान्ट की गणना होती है। उनके मतानुसार सौन्दर्य ज्ञान, बुद्धि तथा संवेदना, अनुभूति के समन्वय से उद्भवित होता है। उन्होंने सौन्दर्य को परम सत्ता - इश्वर - का ही एक रूप माना। उनके अनुसार सौन्दर्य संसार के व्यावहारिक रूप से भिन्न है; कामनारहित, नि:स्वार्थ आनंद का स्रोत है। कान्ट ने सौन्दर्य को उदात्त, निर्हेतुक, स्थल-काल निरपेक्ष तथा व्यक्तिनिष्ठ माना है। उन्होंने सौन्दर्य के दो प्रकार स्वायत्त (लौकिकता से असंलग्न) तथा परायत्त (लौकिकता से संलग्न) बताये। सौन्दर्य ज्ञान को उन्होंने सामान्य ज्ञान का ही अनन्य विभाग माना। कान्ट के मुताबिक, सर्जक यानि मनुष्य की बुद्धि के रूप में कार्यरत प्रकृति। उन्होंने ललित कलाओं को प्रतिभा (नैसर्गिक शक्ति) जन्य बताया है। नियम रहित होने के बावजूद

भी कला-प्रतिभा से निर्मित कलाकृति में कला के लिए आवश्यक नियमों का पालन होता ही है, ऐसा उनका मत है। उन्होंने कला में मौलिकता को काफ़ी महत्त्वपूर्ण मानते हुए मुक्त कल्पना को कला की आत्मा, उसका हार्द माना। कान्ट ने अभिव्यक्ति के माध्यमों को आधार मानकर ललित कलाओं का विभाजन किया तथा उन्हें श्रेष्ठता के अनुसार श्रेणीबद्ध भी किया।

कान्ट से प्रभावित कवि और तत्त्वज्ञानी कोलरीज ने ललित कलाओं को ज्ञान और अस्तित्त्व का अंग माना है। उन्होंने ललित कला को आत्मा के शुद्ध विज्ञान तथा भौतिक विश्व दोनों के मध्य की स्थिति माना। उनके मतानुसार ललित कला आंतरिक मन के साथ बाह्य दुनिया पर भी अवलंबित है। उनका कथन है, कि भावना के बिना उच्च कलाकृति संभव नहीं है। कलाकार की अस्पष्ट, आंतरिक अनुभूति के क्रमशः ओजस्वी, स्पष्ट, जीवंत भावना बनने पर कला का विकास होता है। उन्होंने ललित कला का प्रारंभ कलाकार के अंतर से बताया है।

विख्यात जर्मन कवि गेटे ने सर्जन को दैवी कार्य कहा है। उनके मतानुसार कलाकार प्रकृति की कुछ चीज़ों में परिवर्तन नहीं कर सकता और साथ में उसकी कुछ रचनाएँ ऐसी भी होती है, जो प्रकृति में उपलब्ध न हो। इसके आधार पर उन्होंने कलाकार को प्रकृति का मालिक और गुलाम दोनों कहा है। उन्होंने प्रकृति तथा कलाकार दोनों को समकक्ष बताते हुए सर्जनात्मक शक्ति को प्रकृति और कलाकार के बीच की आंतरक्रिया कहा है। उन्होंने शाश्वत सत्य निहित हो, ऐसी कलाकृति को श्रेष्ठ माना है।[४]

सौन्दर्य को ईश्वरीय गुण मानने वाले भाववादी विचारकों में हेगल भी एक थे। उनके मतानुसार सौन्दर्य अर्थात् चैतन्य तत्त्व का दृष्टिगोचर आविष्कार। उन्होंने सौन्दर्य को भाव-जगत तथा मस्तिष्क से संलग्न बताया है। सर्जन के विषय में हेगल का कथन है, कि सर्जन यानि भवन को वास्तविक रूप देने वाली मनुष्य की आंतरिक,

स्वाभाविक शक्ति; भावनायुक्त कल्पना को कलात्मक स्वरुप प्रदान करने वाली उर्मि। उन्होंने कला की परिभाषा देते हुए कहा है, कि कला यानि सर्जक की शोध के माध्यम से प्रकृति का पुनर्जन्म। कला यानि भावनाओं की अभिव्यक्ति। हेगल के मतानुसार उच्चतम कला की मुख्य विषयवस्तु आत्मा की प्रस्तुति होती है। वह आत्मा से संलग्न होती है। उन्होंने विश्व चैतन्य का अंतिम अविष्कार तत्त्वविचार में माना और कला को तत्त्वविचार से अगला, पहले का सोपान बताया। उनके अनुसार कला द्वारा अभिव्यक्त सौन्दर्य प्राकृतिक सौन्दर्य से उच्च श्रेणी का है। उनका मत है, कि कला के विषयवस्तु के रूप में जो आशय, विचार हो, वह मूर्त, स्पष्ट होना अनिवार्य है; यदि वे अमूर्त और अस्पष्ट हैं, तो कला-रूप भी अस्पष्ट ही रहेगा। उन्होंने कला में सादगी को सराहा, पर माध्यम-शुद्धि को आवश्यक बताया है। हेगल ने कलाओं के पीछे रहे आशय, विचार के आधार पर उनको तीन वर्गों में विभाजित किया : सिम्बोलिक, क्लासिकल तथा रोमेन्टिक। उनका कथन था, कि इतिहास की तरह कला भी अंत तरफ गतिमान है। जब आत्म-तत्त्व संपूर्ण रूप से प्रकट हो जाएगा, तब कला का भी अंत होगा।

हेगल के शिष्य हेबल के कुछ मंतव्य उनसे विरोधी है। उन्होंने कला को तत्त्वज्ञान से पीछे मानने से इनकार किया है; उतना ही नहीं कला को तत्त्वज्ञान की सिद्धि बताया है।

हेगल के अन्य शिष्य फ्रेडरीक विशर ने हेगल की तरह अतीत की ओर नहीं देखा, बल्कि नवीन भावि में कला का विकास देखा। उन्होंने कला के लिए घिसी-पिटी व्यक्तिगत भावनाओं की अपेक्षा तत्कालीन समाज के लिए आवश्यक नवीन विषयों को उपयुक्त माना। उनके मतानुसार भावना यानि बाह्य प्रभावों से बने प्रारब्ध के सामने निरंतर लड़ने की शक्ति।[५]

जर्मन तत्त्वज्ञानी शोपेनहावर का सौन्दर्यवाद उनके आध्यात्मवाद पर आधारित है। उन्होंने सौन्दर्य को ईश्वरीय गुण माना है, अनंत सत्ता का रूप माना है तथा कला को इश्वर की साधना का माध्यम माना है। सर्जक के विषय में उनका कथन है, कि जो भावनाओं का उचित चिंतन कर सके, ऐसा महाशक्तिशाली व्यक्ति सर्जक हो सकता है। उनके मतानुसार इच्छाशक्ति के विकास तथा चेतनायुक्त सौन्दर्य में से तमाम कलाओं का उद्भव हुआ है।

विख्यात तत्त्वज्ञानी टॉलस्टॉय ने अन्य चीज़ों की तरह कला को भी जीवन के लिए माना। कला में दार्शनिकता को प्रमुखता देते हुए कहा, कि उच्चतम भावनाओं का अन्य व्यक्तिओं में संचारण करना ही कला का मुख्य ध्येय है। उनके मतानुसार कला के माध्यम से कलाकार अपनी अनुभूति रसिक तक पहुँचाता है, अतः कला मनुष्य-मनुष्य के मध्य विनिमय, एकता, मिलन का एक साधन है। उनके अनुसार कला का हेतु सौन्दर्य है, जो आनंद प्रदान करता है। टॉलस्टॉय ने कला के दो पहलू - व्यवहारु उपयोगिता तथा कला तत्त्व को मूर्तिमंत करने के प्रयास - बताए हैं। उनके मतानुसार कला विज्ञान पर आधारित है। कला को प्राथमिक एवं नीवीं प्रवृत्ति मानते हुए उन्होंने कहा है, कि समग्र मानवजीवन कला से प्रभावित है।[६]

प्रसिद्ध विज्ञानी डार्विन ने सौन्दर्य को जातीय पसंदगी का महत्त्वपूर्ण अंग माना है। उनके मतानुसार मनुष्य के उपरांत पशु-पक्षीओं में भी सौन्दर्य भावना निहित होती है, उनमें भी कला-प्रवृत्ति उद्भवित होती है, जिसके लिए कला प्रेरक होती है। पक्षीओं द्वारा बनाये जाने वाले सुन्दर घोंसले इसका प्रमाण है।

विज्ञानी स्पेन्सर ने भी सौन्दर्य को काम-वासना से संलग्न बताकर कहा है, कि पशु-पक्षीओं में भी उसके प्रति आकर्षण होता है। उनके अनुसार समग्र मानव समाज की रचना उपयोगिता के आधार पर हुई है; पर क्रीड़ा उसमें अपवाद-रूप है, जो कि सिर्फ आनंद-प्राप्ति के लिए है। क्रीड़ा के अनेक प्रकारों में एक कला भी है।

हर्न नामक विचारक के अनुसार कला के दो हेतु है : १. जीवन की समृद्ध भावनाओं का अनुभव करना तथा २. तंग संवेदनाओं की पीड़ा में से मुक्ति पाना। इस प्रकार कला मनुष्य की वेदना कम करती है तथा आनंद को उत्कृष्ट बनाती है।

इटली के ख्यातनाम तत्त्वज्ञानी क्रोचे की गणना भावनावादी के रूप में की जाती है। क्रोचे ने ज्ञान के दो प्रकार बताए है : प्रातिभज्ञान, जो कि अंतःस्फुरित होने से वैयक्तिक है तथा तार्किक ज्ञान, जो कि सार्वत्रिक सनातन है। उन्होंने उर्मिजन्य अंतर्ज्ञान, विशेष प्रातिभज्ञान के अविष्कार को, भावना, अनुभव के अस्पष्ट प्रवाह की अभिव्यक्ति को 'कला' माना है और उसे व्यक्तिमूलक माना है। उनके मतानुसार कला कल्पना की निर्दोष, शुद्ध, चेतनामय प्रवृत्ति है; प्राथमिक भाषा है; प्रकृति का आदर्शीकरण, या मानव चैतन्य स्पर्शित प्रकृति है। क्रोचे ने बाह्य, भौतिक सृजन से पहले मन में बनने वाले कल्पना-चित्र को ही कलाकृति माना है तथा उसमें विषयवस्तु का चयन करना स्वयं सर्जक के लिए भी असंभव बताया है, क्यों कि वह सहज-स्फुरित है। कला न केवल विषयवस्तु में है, न तो उसके आकार में; कला आकारित विषयवस्तु में है। क्योंकि क्रोचे ने कला के वास्तविक रूप को भौतिक नहीं मानते हुए केवल मानसिक माना है, उन्होंने कला को क्रीड़ा स्वरुप नहीं माना। क्रोचे के मतानुसार मनुष्य कला के माध्यम से संवेदन को आकारित करके, उन्हें अपने से मुक्त करके उन पर प्रभुत्त्व अनुभव करता है, जो उसे मुक्ति की अनुभूति देता है। उनके मतानुसार कला का कार्य व्यक्तित्त्व की शोध करना है; किसी विचार या सार्वत्रिक नियमों की अभिव्यक्ति करके उन्हें समझाना उसकी क्षमता अवश्य है, पर कार्य नहीं। कला को ज्ञानात्मक प्रक्रिया मानते हुए क्रोचे ने उसे तर्क, विज्ञान, उपयोग, नैतिकता, वास्तविक रूप-विधान, इत्यादि व्यवहारिकता से संबंधित नहीं माना। उनके मतानुसार कला में प्रामाणिकता यानि अनुभूति की सत्य एवं परिपूर्ण अभिव्यक्ति तथा संभाव्य यानि जिसकी कल्पना संभव हो। उन्होंने ये भी कहा है, कि कलाकृति केवल प्रतिभान (अंतःस्फूरणा) की अभिव्यक्ति है, अतः उसके आधार पर कलाकार के

व्यक्तित्त्व के विषय में कुछ मान लेना भूल है। सौन्दर्य, कला को पूर्णतः वैयक्तिक मानते हुए क्रोचे ने प्रत्येक कृति को विशिष्ट माना है। उन्हें वर्ग या प्रकारों में वर्गीकृत करना उचित नहीं समझा, क्यों कि ऐसा करने के लिए वैशिष्ट्य को अनदेखा करके साम्य पर ध्यान केन्द्रित करना पड़ेगा, जो मूल प्रतिभान का विनाशक होगा। उन्होंने कला के लिए कोई भी नियम अपेक्षित नहीं माने। क्रोचे के मतानुसार रसिक बाह्य कृति के माध्यम से कलाकार की मानसिक कृति का (अपने मन में) पुनः निर्माण करके कलाकार के दृष्टिकोण से कृति को ग्रहण करता है, अतः तत्त्वतः प्रतिभा और अभिरुचि एक ही है। उनका यह भी कहना है, कि कला सभी में निहित है, सामान्य मनुष्य एवं कलाकार के बीच तफ़ावत है वह सिर्फ संख्यात्मक है, गुणात्मक नहीं।

क्रोचे के अंग्रेज अनुयायी केरीट ने कला को आत्मानुभूति की अभिव्यक्ति कहा है। उन्होंने कला के प्रकार निश्चित करने को मूर्खतापूर्ण प्रवृत्ति कहा है।

क्रोचे के मतवादी कोलींगवुड़ ने कहा है, कि कला सिर्फ हस्त-कौशल्य, वास्तव की प्रतिकृति या मनोरंजन का साधन नहीं है। कला आत्मानुभूति की अभिव्यक्ति है। कोलींगवुड़ के मतानुसार कल्पना संवेदना की अपेक्षा अधिक और विचार की अपेक्षा कम स्वातंत्र्य रखती है। उन्होंने भाव के कल्पनास्तरीय आविष्कार को 'कला' संज्ञा दी। उनके मतानुसार चंचल संवेदनाओं को स्थायी रूप प्रदान करना - यही कला का स्वरुप है। उनके मतानुसार शुद्ध कल्पना से लेकर सामाजिक घटनाओं (जीवन के इतिहास) का कला अनुकरण करती है। अति संवेदनशीलता के कारण कलाकार इन घटनाओं से प्रभावित होता है, तथा उसी आकुलता को अभिव्यक्त करके मुक्ति पाने हेतु कला का सहारा लेता है। कोलींगवुड़ ने कला को ज्ञानशास्त्रीय प्रक्रिया से संलग्न माना है।

फ्रोइड़, युंग, एडलर, इत्यादि विचारकों ने सौन्दर्य तत्त्व को मानसशास्त्र से संलग्न बताया है। फ्रोइड़ के अनुसार सौन्दर्य काम से प्रेरित ऐन्द्रिय अनुभूति है, जो

कला के माध्यम से अभिव्यक्त होती है। उन्होंने कला को दमित भावनाओं की अभिव्यक्ति का, असंतृप्त इच्छाओं की पूर्ति का सक्षम माध्यम माना है।[७]

पाश्चात्य परिप्रेक्ष्य में 'कला' संज्ञा से संलग्न अन्य कुछ पहलू इस प्रकार है :

कला की उत्पत्ति संस्कृति के विकास के साथ सहजरूप से हुई है। इसमें धर्म का भी योगदान रहा, जिसका उदाहरण ग्रीस की कला है। ग्रीस में डायोनिसीयाक धर्म के आगमन से उसके धार्मिक विधि-विधानों में से नाटक, जादू, इत्यादि कलाओं को काफ़ी प्रेरणा मिली तथा उनका उत्कृष्ट विकास हुआ।[८]

कला सौन्दर्य तत्त्व का आविर्भाव है। सौन्दर्य सहज होकर भी संकुल है, वस्तुगत-सृष्टिगत होकर भी दृष्टिगत-व्यक्तिगत है, सुगम होकर भी दुर्गम है, हेतुशून्य होकर भी हेतुपूर्ण है, नियमबद्ध होकर भी नियम रहित है, लौकिक होकर भी अलौकिक है, स्वप्न-दिवास्वप्न होकर भी सत्य है, नीति-ज्ञान की सीमा में बंधकर भी उनसे मुक्त है।

अधिकांश सौन्दर्यशास्त्रीओं ने प्रकृति तथा कला - दोनों में सौन्दर्य पाया है। कलात्मक प्रकृति को तथा प्रकृतिमय कला को सुन्दर माना जाता है। हेगल जैसे सौन्दर्यविद् ने कला के सौन्दर्य को आत्मीय मानते हुए उसे प्रकृतिजन्य सौन्दर्य की अपेक्षा उच्च कक्षा का माना है। इसका विरोधी मत ऐसा भी है, कि प्रकृति के सर्जक परमात्मा कला के सर्जक मनुष्य - आत्मा - से उच्च है, अतः प्रकृति का सौन्दर्य कला के सौन्दर्य से उच्च कक्षा का है।

कला प्रकृति का अनुकरण है, पर हुबहू नकल के रूप में नहीं। कलाकार अपनी कला में प्रकृति को विशिष्ट स्थान देता है, साथ-साथ मर्यादाओं को छोड़ता है, परिवर्तित करता है। कला प्रकृति से अधिक नावीन्यपूर्ण, अधिक सौन्दर्यपूर्ण, अधिक परिपूर्ण हो, ऐसा प्रयास प्रायः किया जाता है; जो स्वाभाविकरूप से उचित है। अतः

उसमें प्रकृति से मिली प्रेरणा को और भी परिष्कृत करके प्रस्तुत करने की कोशिश होती है।

कला सिर्फ अनुकरण न होकर आविष्कार भी है। वह सिर्फ ईश्वरीय देन नहीं है, बल्कि उसे मानवीय शक्ति से उजागर किया जाता है। कला निर्मिति हेतु मनुष्य प्रकृति से कुछ तत्त्वों का चयन करता है, फिर उन्हें सुसंवादित रूप से परस्पर इस प्रकार संयोजित करता है, जो सौन्दर्यपूर्ण हो। कला सिर्फ मौजूद पदार्थों का वस्तु के रूप में उपयोग नहीं करती है, बल्कि उसमें मानवीय कल्पना तथा विचार शक्ति का भी योगदान है। कला-निर्मिति हेतु मनुष्य (कलाकार) की वैज्ञानिक और दार्शनिक बौद्धिक क्षमता आवश्यक है।

'सौंदर्यशास्त्र' का अंग्रेजी शब्द 'aesthetics' ग्रीक संज्ञा 'aistheta' या 'aisthetikos' से बना है, जिसका अर्थ है : इन्द्रियबोध कराने वाले पदार्थ। इश्वर या आत्मा इन्द्रियातीत है, पर उनसे उद्भवित प्रकृति या कला का अनुभव, उनका बोध इन्द्रियों के माध्यम से ही हो सकता है। कला के रसास्वादन के लिए सभी ज्ञानेन्द्रियों को आवश्यक माना गया है।[९]

कला के कई उपयोग हो सकते हैं, पर उपयोगिता उसका बंधन नहीं है। मनोरंजन, सजावट, आदि कार्य के लिए कला सक्षम अवश्य है, पर उसका उच्चतम कार्य मनुष्य (कलाकार) की दिव्य चेतना, उसका आत्मीय सत्य, उसकी अंतःस्फूरणा तथा विचारों को उजागर करना है। कला का यह उच्चतम कार्य धर्म तथा दर्शन के कार्य के समान ही है। उल्लेखनीय है, कि कला धर्म तथा दर्शन की अपेक्षा मनुष्य के भावनात्मक, संवेदनात्मक जीवन से काफ़ी करीब है, क्योंकि उसका कार्य ही भावना, संवेदना की अभिव्यक्ति है।

कलाकार समाज में व्याप्त हकारात्मक तथा नकारात्मक संवेगों को ग्रहण करके अपने मानस में उनका मंथन करके उचित माध्यम से उन्हें अभिव्यक्त करता है। इस

प्रकार कला व्यक्ति, समाज की विसंगतियों को उजागर कर उनका निराकरण करती है।

वर्तमान सौन्दर्यशास्त्री कला में अभिव्यंजना सिद्धांत को अधिक मानते हैं। इसके मुताबिक कला की सफलता उसकी अभिव्यक्ति पर आधारित है। कला आत्मानुभूति की अभिव्यक्ति है, संचार का माध्यम है।

पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र के अनुसार कला में अर्थ की उपस्थिति के संदर्भ में तीन मत - वाद - प्रवर्तमान है : कलावाद, संदर्भवाद तथा अभिव्यक्तिवाद।

१. कलावाद (निरपेक्षवाद - Autonomy) :

एड़वर्ड हेन्सलीक इसके प्रथम प्रवर्तक रहे। इस वाद के अनुसार कला में अर्थ की अनुपस्थिति है। कला स्वायत्त है, अपने आप में परिपूर्ण है। इसका लक्ष्य रंजन है और बाहरी तत्त्व की अभिव्यक्ति न करते हुए कला की ही अभिव्यक्ति की जाती है। कला को विषयगत, भावातीत, अलौकिक, व्यावहारिकता से उच्चस्तरीय, समाज निरपेक्ष माना गया है। सौन्दर्य के इलावा अन्य मानवीय अनुभूतिओं से कला को विमुख माना गया है तथा लौकिक विमुखता से कला की सौन्दर्य सन्मुखता में वृद्धि होती है, ऐसा माना गया है। इस वाद के अंतर्गत संगीत जैसी कला में सिर्फ स्वर-लय को मान्यता दी गई है, शब्दों को नहीं।

२. संदर्भवाद (भाववाद - Hetronomy) :

क्रोचे इसके प्रवर्तक रहे, तथा टॉलस्टॉय समर्थक रहे। इस वाद के अनुसार कला में अर्थ की उपस्थिति है। कला बाह्य जगत से संलग्न है। इसका लक्ष्य चित्त, वृत्ति तथा बोध है और संवेदनों की अभिव्यक्ति की जाती है। कला को विषयीगत, भावपूर्ण, लौकिकता से संलग्न, व्यावहारिकता की अभिव्यक्ति, समाज सापेक्ष माना गया है। इसमें मानवीय भावों की अभिव्यक्ति की

सचोटता में कला की उच्चता में वृद्धि होती है, ऐसा माना गया है। इस वाद के अंतर्गत संगीत जैसी कला में स्वर-लय के साथ शब्दों को भी मान्यता है।

३. अभिव्यक्तिवाद (Expressionism)

इस वाद में कलावाद तथा संदर्भवाद का सायुज्य है। कुछ सिद्धांत कलावाद के, तो कुछ संदर्भवाद के माने गए हैं। भारतीय शास्त्रीय संगीत इस वाद पर निर्भर माना गया है।

- **पूर्वीय मतानुसार कला :**

पूर्वीय राष्ट्रों में कला अति प्राचीन काल से समाज से संलग्न रही। 'कला' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग भारतीय ऋग्वेद में किया गया है, उसके पश्चात् यजुर्वेद, अथर्ववेद, शब्दकल्पद्रुम, वाचस्पति कोष, इत्यादि तथा अन्य स्थानों पर उसका उपयोग हुआ।[१०]

'कला' शब्द की उत्पत्ति 'कल्' धातु से हुई है, जिसका अर्थ है शब्द करना, गिनना, जानना, उत्पन्न करना या कुछ नवीन करना। 'कल्' धातु का अर्थ 'संख्यान' भी होता है, ('सम्' उपसर्ग 'ख्या' से जुड़ने से गिनना, गणना, या संकलन करना, ऐसा अर्थ होता है) जिसका तात्पर्य मनन, चिंतन, एवं ध्यान से है। "क (सुखम्/आनंदम्) लाति इति कला।" ऐसी भी परिभाषा की गई है, जिसका अर्थ है : जो सुख/आनंद प्राप्त करवाए।

भारतीय साहित्य में 'कला' शब्द कई अर्थों में प्रयुक्त दृश्यमान होता है, जैसे कि १६वाँ या अत्यंत छोटा भाग, चन्द्र की कला, काल की इकाई, राशि का अंश, कौशल्य, इत्यादि।

'कला' शब्द का (वर्तमान अर्थ की तरह) 'ललित कला' के अर्थ में सर्वप्रथम प्रयोग भरतमुनि ने अपने ग्रन्थ 'भरत नाट्यशास्त्र' में किया है :

"न तंज्ञान न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।
न स योगो न तत्कर्म येन्नटयेस्मिन्न् दृश्यते।।"

अर्थात्, ऐसा कोई ज्ञान, शिल्प, विद्या, कला, योग, और कर्म नहीं है, जो नाट्य में नहीं है।[११]

उल्लेखनीय है, कि भरतमुनि ने 'कला' शब्द का प्रयोग किया है, पर उसे परिभाषित नहीं किया है। इससे अनुमान लगाया जा सकता है, कि तत्कालीन समाज में यह शब्द काफ़ी प्रचलित होगा।

भारतीय सांस्कृतिक इतिहास के विभिन्न युगों के समाज में प्रचलित रहे कला तथा सौन्दर्य के स्थान का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है :

भारत में वेदकालीन संस्कृति में कला शब्द का प्रतिष्ठित स्थान रहा।[१२] वैदिक समाज में कृषि, पशुपालन, रसोई, बढ़ईकाम, लोहारीकाम, कुम्हारीकाम, गायन-वादन-नर्तन, चित्र, शिल्प, साहित्य, आदि कौशल्ययुक्त कार्यों के लिए 'कला' संज्ञा का प्रयोग होता था। इस समय में सौन्दर्य का ख्याल भी विकसित हो गया था। प्रकृति, मानवदेह तथा कला-कारीगिरी में मनुष्य ने सौन्दर्य-दर्शन किया। वैदिक मानवी ने देवों की सुन्दरता का भी (काव्य) कला से वर्णन किया है। विदीत है, कि वैदिक समाज इन्द्रियजन्य, बुद्धिजन्य तथा भावनाजन्य कला-सर्जनों का आनंद लेता था।

पुराणों में लिखित कला-वर्णनों से विदीत होता है, कि पुराणकालीन भारतीय समाज में भी कला का स्थान था।

आरण्यकों तथा उपनिषदों का काल भारतीय तत्त्वज्ञान के विकास का समय है। इस समय में ऋषि-मुनिओं ने अरण्यों में रहकर जगत, आत्मा, परमात्मा, उनका परस्पर संबंध, इत्यादि दार्शनिक तत्त्वों पर गहन विचार किया तथा उस क्षेत्र में काफ़ी ज्ञान हांसिल किया। कला तथा सौन्दर्य तत्त्व की ओर विशेष ध्यान, समय न देने से इस काल में इनका विकास अधिक नहीं हुआ। कला का चिंतन ब्रह्म-चिंतन के लिए बाधारूप माना गया तथा "ब्रह्मैव रस :" - ब्रह्म ही रस (आनंद) है - जैसे ख्याल प्रचलित हुए।

बौद्धकाल में कला को नागरिक जीवन का आवश्यक अंग माना गया। जैनकाल में भी समाज में कला का उल्लेख 'महिलागुण' के रूप में किया गया है।

विभिन्न पूर्वीय (भारतीय तथा अन्य) ग्रंथों एवं विद्वानों के कला तथा सौन्दर्य संबंधी अभिप्राय का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है :

विश्व के प्राचीनतम ग्रन्थ माने जाने वाले ग्रंथ 'ऋग्वेद' में 'कला' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग किया गया। इस ग्रंथ में सौन्दर्य से संलग्न कई संज्ञाओं का उपयोग हुआ है, जिनमें 'श्री', 'सौन्दर्यवान', 'श्रेयस', 'श्रेष्ठ', 'चारू', 'भद्र', 'कल्याण', 'कल्याणी', 'वपुस्', 'शुभे', 'श्रिये', 'चित्र', 'रूप' (सुरूप-विरूप), 'लक्ष्मी', 'वाम', 'रण्व', इत्यादि समाविष्ट हैं।[१३]

उपनिषद काल में 'सुन्दर' तथा 'शिव' के मध्य का भेद स्पष्ट होता दिखाई देता है। 'कठोपनिषद' में 'इन्द्रियगम्य' (सुन्दर) को 'श्रेयस्कर' से भिन्न बताया गया है। 'कठोपनिषद' तथा 'बृहदारण्यक उपनिषद' में सूचना दी गई है, कि (शिल्प) कलाकार को अपना सर्जन शुरू करने से पूर्व रात्रि को इश्वर से पार्थना करनी चाहिए, कि वे स्वप्न में उसे सर्जन की रीत सिखाए।

हमारे पुराणों, सूत्रों, धर्मशास्त्रों में जीवन-शैली का विस्तृत वर्णन पाया जाता है। इस साहित्य से तत्कालीन समाज में कला के स्थान का प्रमाण मिलता है। उल्लेखनीय है, कि उस समाज में कला एवं कलाकारों का प्रचलन अवश्य था, पर उन्हें अधिक मान-सम्मान प्राप्त नहीं था। कुछ प्रसंगों, स्थानों पर कला और कलाकार दोनों के लिए निषेध होता था। लेकिन कुछ समय पश्चात् समाज के कला हितेच्छुकों द्वारा ऐसा प्रस्थापित करने का प्रयास किया गया, कि जीवन के चार आश्रमों (ब्रह्मचर्याश्रम, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थाश्रम तथा सन्यासाश्रम) के ध्येय की पूर्ति में कला सहायक सिद्ध होती है। कुछ प्राचीन भारतीय मंतव्यों में कला को योग का एक प्रकार भी माना गया है।[१४]

'कालिकापुराण' में एक कथा है, जिसमें कला की उत्पत्ति के विषय में बताया गया है। इस कथा के अनुसार ब्रह्मा तथा उनके द्वारा उत्पन्न कन्या संध्या के समन्वय

से कलाओं की उत्पत्ति हुई। इस ग्रंथ में कलाओं को (कन्या संध्या के) ‘महिलागुण’ माना गया है।

‘विष्णु धर्मोत्तर पुराण’ में राजा वज्र तथा मुनि मार्कंडेय के संवाद के रूप में कलाओं के आंतरिक संबंध का प्राचीन भारतीय मंतव्य प्रस्तुत किया गया है। इस संवाद के मुताबिक शिल्पकला चित्रकला पर, चित्रकला नर्तनकला पर, नर्तनकला वादनकला पर तथा वादनकला गायनकला पर आधारित है।

प्राचीन भारतीय मंतव्य अनुसार कला को योग का एक प्रकार माना गया है। योग का कार्य चिंतनकार तथा चिंतक के लक्ष्य को एक करना है, जो कला भी करती है। ‘भागवत पुराण’ में इस बात को समर्थन दिया गया है।

‘अग्निपुराण’ में कला और स्वप्न का संबंध बताया गया है। उसमें कलाकार के लिए सूचन है, कि वह परमात्मा को प्रार्थना करके अपने स्वप्न में आकर कला-शिक्षा प्रदान करने के लिए अनुनय करें। विदीत है, कि कला को प्राचीन काल से स्वप्न (दिवास्वप्न, कल्पना) से संलग्न माना गया है।

‘योगसूत्र’ में भी ‘अग्निपुराण’ में आलेखित कला और स्वप्न के संबंध को समर्थन देते हुए कला का उल्लेख किया गया है।

वात्स्यायनकृत अति प्राचीन ग्रंथ ‘कामसूत्र’ में प्रेम-क्रीड़ा में सहायक कलाएँ, मनोविनोद साधक कलाएँ, दैनिक प्रयोजनलक्षी कलाएँ, वास्तुविद्या, धातुविद्या, रत्नपरीक्षा, गायन, वादन, नर्तन, काव्य, साहित्य, शिल्प, चित्र, इत्यादि कलाओं का वर्णन किया गया है। ‘षडंग’ नाम से चित्रकला के रहस्य का वर्णन किया गया है, जो प्राचीन भारतीय कला-मर्मज्ञता का प्रमाण है।

राजा भोज ने अपने ग्रंथ 'समरांगण सूत्रधार' में कला संबंधी शास्त्र की चर्चा की है। उन्होंने इस ग्रंथ में रस, कलाकार के लक्षण, तथा चित्रकला के अंगों का वर्णन किया है।

'अपराजित पृच्छा' नामक ग्रंथ में समग्र विश्व को चित्ररूप बताते हुए तमाम घटक - देवता, दानव, मानव, पशु-पक्षी, प्रकृति, इत्यादि की उत्पत्ति चित्रकला से बताई गई है।

राजा सोमेश्वर ने अपने ग्रंथ 'मानसोल्लास' में चित्र के चार प्रकार बताकर उस की व्याख्या इस प्रकार की है : 'निर्मितं चित्रलक्ष्भेदं चित्ततोदनहारकम्'। अर्थात्, चित्त के संताप को दूर करनेवाला। विदीत है, कि (चित्र) कला को दुःख का निराकरण माना गया।

श्रीकुमार रचित ग्रंथ 'शिल्परत्न' में भी (चित्र) कला संबंधी चर्चा प्राप्य है।[१५]

बुद्ध ग्रंथ 'धम्मसंगनी' में भारतीय सौन्दर्यतत्त्व के विषय में लिखा गया है। बुद्धघोष ने उसकी टीका लिखी है, जिसमें उन्होंने सर्जनात्मक अंतर्ज्ञान, काल्पनिक रूपों को ही कला का असली रूप माना है। उन्होंने कलाकृति के बाह्य स्वरुप को आंतरिक कला-भावना का अनुकरण बताते हुए मानसिक सर्जन की अपेक्षा निम्न कक्षा का माना है। उनके अनुसार बाह्यरूप ग्राह्य न करने पर भी आंतरिक सर्जनात्मक चेतना कला ही है। (पाश्चात्य विद्वान क्रोचे के मत से यह मत बिलकुल साम्य रखता है।

'शुक्रनीतिसार' ग्रंथ के वर्णन अनुसार कला का संपूर्ण रूप ध्यान में से उत्पन्न होता है। ध्यानावस्था में पूर्ण होने के पश्चात् ही उसका स्थूल रूपांतरण संभव है।

'शुक्रनीतिसार' तथा बुद्धघोष के मंतव्य में काफ़ी साम्य है, दोनों ने कला के आंतरिक रूप को ही मुख्य माना है। परंतु तफ़ावत यह है , कि बुद्ध धर्म के अनुसार

आंतरिक स्वरुप ही सच्ची कला है, जबकि हिन्दु धर्म के अनुसार कलाकार की ध्यानावस्था अनिवार्य होने के बावजूद भी आंतरिक स्वरुप का बाह्य प्रकटीकरण होने पर ही कला संपूर्ण होती है।

'पंचरात्र' ग्रंथ-समूह में कला-सर्जन से पूर्व की जाने वाली पूजाविधि का वर्णन है। पंचरात्र के एक ग्रंथ 'इश्वर संहिता' में सौंदर्य तथा लावण्य को परस्पर भिन्न बताकर दोनों को कला में अनिवार्य माना गया है। प्रमाणबद्ध संवादिता से सौन्दर्य निष्पत्ति होती है, जबकि लावण्य मनुष्य की आंतरिक भावना, संवेदना, विचार तथा चेतना की प्रस्तुति है।

भारतीय तत्त्वज्ञान के 'सांख्यमत' के अनुसार कला के माध्यमों में कला सुशुप्त अवस्था में निहित होती ही है, कलाकार अपनी ध्यानावस्था द्वारा उन गर्भित रूपों को प्रकट करता है। इस मत के मुताबिक कला के विकास की दो कक्षाएँ हैं - एक वह, जिसमें कलाकार सादृश्य यानि बाह्य रूप उत्पन्न करता है; तथा दूसरी वह, जिसमें कलाकार अपनी आंतरिक भावनाओं, अपने आदर्श की अभिव्यक्ति करता हो। इस दूसरी कक्षा को कला का अंतिम ध्येय माना जाता है।

'अमरकोश' के टीकाकार भानुजी दीक्षित ने कहा है, कि 'चित्तं प्रायते इति चित्रम्।' - अर्थात्, जो चित्र का रक्षण करे, वह चित्र। तात्पर्य यह है, कि चित्त - हृदय के भाव जहाँ सुरक्षित रहे, वह कला है।

शुक्राचार्य के अनुसार यदि कलाकार आराध्यदेव की मूर्ति की रचना करने जा रहा है, तो पहले उसे शास्त्रोक्त नियम एवं पद्धति के अनुसार उस देव का ध्यान करना चाहिए। कलाकार भी भक्त की तरह ध्यान से कल्पित रूप को प्रत्यक्ष में परिवर्तित करता है।

शंकराचार्य के अनुसार सर्जन सम्प्रज्ञात (जिसमें ज्ञाता तथा ज्ञेय के मध्य भेद रहता हो) समाधि की तरह है। सर्जक का अपने शरीर पर काबू होता है, पर जाग्रत होने पर भी उसका समग्र ध्यान अपने सर्जन में केन्द्रित होता है।[१६]

महाकवि कालीदास ने अपने पात्र अग्निमित्र का उसकी कृति - 'मालविका की प्रतिभा' की टीका करते हुए आलेखा है। अग्निमित्र का कथन है, कि उसे मालविका का सादृश्य तो प्राप्त हो गया था, पर ध्यानावस्था में विक्षेप होने से वह भाव और लावण्य से वंचित रह गया था। तात्पर्य यह है, कि कालिदास ने भी केवल बाह्य रूप को कला का पूर्ण स्वरूप नहीं माना। उनका कथन है, कि सच्चे कलाकार को वही सुन्दर प्रतीत होता है, जो पुर्णतः सत्य और शिव हो।[१७]

आनंदकुमार स्वामी ने कला को धार्मिक, आध्यात्मिक प्रतीक माना है। उनके मतानुसार ध्यानावस्था की प्राप्ति से कला का कर्तव्य पूर्ण होता है। उनका कहना है, कि आधुनिक कला में रुपदायी तत्त्वों तथा ऊपरी, बाह्य सौन्दर्य का व्याप बढ़ गया है। उनके अनुसार वेदकाल में समाज में प्रचलित कलाएँ मुख्यतः व्यावहारिक थीं तथा उसके पीछे व्यावहारिक उपयोग का उद्देश्य रहता था।[१८]

पंडित हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपने पुस्तक 'प्राचीन भारत का कला-विलास' में कला से संलग्न तीन पहलूओं की चर्चा की है : १. उसका तत्त्ववाद, २. उसका कल्पनात्मक विस्तार तथा ३. उसकी ऐतिहासिक परंपरा। उनके अनुसार शिवरूप चैतन्य जिनसे आवृत्त होकर जीवात्मा का रूप धारण करता है, उन पाँच आवरण या माया के कंचुक में कला भी एक है। ये कंचुक इस प्रकार हैं : १. काल, २. नियति, ३. राग, ४. विद्या, ५. कला। उनके मतानुसार कला का लक्ष्य सिर्फ कला नहीं है। परम तत्त्व के प्रति उन्मुखीकरण या आत्मस्वरूप का साक्षात्कार ही कला का लक्ष्य है। परम तत्त्व की ओर ले जाने वाली कला ही कला है।

कविवर रवीन्द्रनाथ टागोर ने 'कामसूत्र' के 'षडंग' की विवेचना की है, जो महदरूप से चित्रकला से संलग्न है। पर उसमें कई तत्थ्य 'कला' तथा 'सौन्दर्य' से संबंधित भी हैं, जिनके अनुसार सौन्दर्य सत्य है, तथा सत्य ही सौन्दर्य है। उनका कथन है, कि आनंद की तमाम अभिव्यक्ति सौन्दर्य है। आनंद यानि व्यक्ति से आत्मा की मुक्ति। सौन्दर्य वास्तव की ऐसी गहन प्रस्तुति है, जो हृदय को संतुष्ट करती है। उनके मतानुसार कला व्यक्तित्त्व को अनंत, नि:स्वार्थ मुक्ति प्रदान करके उसका उचित स्थान दर्शाती है। कलासर्जन के लिए भावनायुक्त आदर्श की शक्ति आवश्यक है।

विख्यात चित्रकार अवनीन्द्रनाथ टागोर ने भी 'कामसूत्र' के चित्रकला संबंधी 'षडंग' पर विवेचन किया है, जिनके सौन्दर्य तथा कला संबंधी तत्थ्यों के मुताबिक सौन्दर्य तथा कुरूपता का अस्तित्त्व मन में ही निहित है। रूचि की संवादिता आनंदप्राप्ति तथा सौन्दर्यदर्शन का कारण है। रूचि की विसंवादिता से दुःख तथा कुरूपता का अनुभव होता है। उनका कथन है, कि दृश्य तथा मानसिक आंतरक्रिया के कारण दृश्य तथा दृष्टा के मध्य सौन्दर्य या कुरूपता का भेद उत्पन्न होता है। अवनीन्द्रनाथ के अनुसार कला में लावण्य का उपयोग आवश्यक है। लावण्य कभी अपनी घोषणा नहीं करता रहता, वह शांति बनाये रखता है। कला में महत्तम प्रदान करने के बावजूद भी वह कम से कम विघ्नकर्ता होता है।[१९]

श्री दासगुप्ता ने अपने पुस्तक 'The Fundamentals of Indian Art' में लिखा है, कि कला के पीछे रही चेतना मानसिक घनता के रूप में मन में स्थायी है। भारतीय दर्शन में इस चेतनायुक्त अवकाश को 'चिदाकाश' कहा गया है। चेतना तथा अर्धचेतना की संवादिता से जागृत हुई सभानता आनंद तथा सौन्दर्य के अनुभव का कारण बनती है।

श्री अरविन्द ने अपने पुस्तक 'The National Value of Art' में कला के सौन्दर्यात्मक, आध्यात्मिक, शैक्षणिक तथा राष्ट्रीय महत्त्व के विषय में अपने मंतव्य

प्रकट किये हैं। उनके मतानुसार शुद्ध सौन्दर्यतत्त्व की दृष्टि से कला का उपयोग उसका प्राथमिक तथा सबसे निम्न कक्षा का उपयोग है, बौद्धिक या शैक्षणिक उपयोग उसका द्वितीय तथा माध्यम कक्षा का उपयोग है और आध्यात्मिक उपयोग उसका तृतीय तथा सर्वोच्च कक्षा का उपयोग है। सौन्दर्यात्मक उपयोग को निम्न कहने से उनका तात्त्पर्य यह नहीं है, कि उसका महत्त्व नहीं है, पर सर्वोच्च उपयोग की तुलना में वह प्राथमिक स्तरीय है, बस इतना ही। उन्होंने यह भी कहा है, कि सौन्दर्यतत्त्व अत्यंत महत्त्वपूर्ण है, तथा उसका कार्य सम्पूर्ण न हो, तब तक अन्य कक्षाओं से कला का उपयोग संभव नहीं। श्री अरविन्द ने मानव-विकास के लिए सौन्दर्यात्मक भावना को अति आवश्यक मानते हुए कहा है, कि पाशवी तथा असंस्कृत वासना, प्रवृत्ति, आचरण के प्रति सौन्दर्यभावना अरुचि उत्पन्न करती है। वह मनुष्य को संस्कृत - विधिवत् जीवन, सुन्दर आचरण, उच्च अभिव्यक्ति की ओर ले जाती है। उनके मतानुसार आधुनिक समय में सौन्दर्यतत्त्व की सूक्ष्मता, नजाक़त को आवश्यक प्राधान्य नहीं मिल रहा।[२०]

हिन्दी व्याकरणशास्त्री आचार्य चन्द्र के अनुसार 'कला' शब्द 'ला' धातु से बना है। 'कला' का अर्थ उन्होंने 'कलाति' अर्थात् आनंद देने वाला - ऐसा करते हुए कला को ऐन्द्रिय सुख का साधन माना है।

डॉ. के. सी. पांडे के मतानुसार कला ऐसी मानवीय क्रिया है, जिसके विशेष लक्षण ध्यान दृष्टि से देखना, गणना अथवा संकलन करना, मनन और चिंतन करना तथा स्पष्ट रूप से प्रकट करना है।

मोनियर विलियम्स तथा श्री आप्टे के संस्कृत कोषों के अनुसार कला यानि निर्माण या रचना करना, संपन्न करना।[२१]

सर जोह्न मार्शल के मतानुसार भारतीय कला का अभिगम नाशवंत के बदले शाश्वत, सांत के बदले अनंत से बना है। ग्रीक कला-विचार नैतिकता तथा तर्क पर

आधारित है, जबकि भारतीय कला-विचार आध्यात्मिकता तथा भावना-संवेदना पर आधारित है।

जयशंकर प्रसाद के अनुसार मानव-विकास से कला-विकास हुआ है, तथा कला मानव की चिरसंगिनी है।

राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त का कथन है, कि अभिव्यक्ति की कुशल शक्ति कला है।[२२] कला से जीवन महत्त्वपूर्ण बनता है। सच्ची कला वही है, जो जीवन को सुमार्ग पर ला सके।

हरद्वारीलाल शर्मा का कथन है, कि मानव की स्वयं को तथा ब्रह्मांड को समझाने की पीड़ा ने सभ्यता, संस्कृति तथा कला को जन्म दिया है।

डॉ. नगेन्द्र ने कहा है, कि प्रत्येक सफल कलाकृति के अध्ययन के पश्चात् मन-हृदय आत्म परितोष का अनुभव करते हैं। कलाकृति की गंभीरता और उदात्तता की वृद्धि प्रेक्षक के आत्म परितोष की गंभीरता और उदात्तता में अभिवृद्धि करेगी।[२३]

आचार्य शुक्ल के अनुसार अनुभूति को अन्य तक पहुँचाना कला है। प्रसाद के अनुसार मानवी को मिली ईश्वरीय शक्ति का विकास कला है।[२४]

राष्ट्रपिता महात्मा गांधी के मतानुसार प्रकृति कला की जननी है, अतः कला को भी प्रकृति की तरह सर्वव्यापी होना चाहिए। सच्ची कला वही है, जो सभी को प्रभावित करे; ना कि चँद लोगों की समज में आकर अनेकों के लिए पहेली-सी बनकर रह जाए। कलाकार का कर्तव्य समस्त मानवगण के प्रति मानते हुए महात्मा ने कहा है, कि कला जितना अधिक आम मनुष्य को उपयोगी हो, उतनी ज्यादा शुभ तथा जितना कम उपयोगी, उतनी ही अशुभ होगी। कला को आंतरिक विकास का आविर्भाव मानते हुए उन्होंने कहा, कि बिना आंतरिक विकास के बाह्य की कोई कीमत नहीं। उन्होंने 'कला के लिए कला' की अपेक्षा 'नीति के लिए कला' को उचित

माना। आसपास की बाह्य कलाकृतिओं के स्थान पर आत्मदर्शन के लिए सहायक आंतरिक कला-भावना को अधिक अर्थपूर्ण माना। 'सत्य' तथा 'शिव' से सभर सौन्दर्य को ही उन्होंने उचित, अर्थपूर्ण माना है।[२५]

भारत में प्रचलित कला संबंधी मतों के बाद अब चीन, जापान, जैसे अन्य पूर्वीय राष्ट्रों में प्रचलित कला संबंधी मतों पर दृष्टि करते हैं :

चीनी कलासंस्कृति के प्रेरणास्रोतों में एक बौद्ध धर्म भी है। उसके जीवन की क्षणभंगुरता, चंचलता तथा जीवन-मृत्यु परंपरा संबंधी मंतव्य से चीनी कला ने प्रेरणा ली है। बुद्ध धर्म के शीनगोन पंथ में ध्यानावस्था की विभिन्न कक्षाओं के रंग निश्चित किये गए थे, जिसके मुताबिक किये गए चित्र ध्यान की उत्तरोत्तर स्थिति प्रदर्शित करते थे।

चीन के एक तत्त्वज्ञानी मत 'ताओवाद' में व्यक्तिगत आत्मा तथा निसर्ग के सौन्दर्य को प्रधान लक्ष्य माना गया।

चीनी विचारक लाओ त्सु तथा चुआन त्सु ने दक्षिण चीन के पारंपारिक सौन्दर्यप्रेमी अभिगम को समर्थन दिया है। (उत्तर चीन का पारंपारिक अभिगम इससे विपरीत उद्योगलक्षी, उपयोगलक्षी है।) लाओ त्सु के मतानुसार जगत के तमाम सर्जनों की दैवी शक्ति के साथ संवादिता साधना अंतिम कल्याणकारी ध्येय है, जिसके लिए मनुष्य को प्रथम स्वयं को जानना चाहिए।

अंग्रेज विद्वान लोरेन्स बीन्यन ने चीनी कलासंस्कृति के प्रतीकवाद की चर्चा करते हुए कहा है, कि उसमें मानव जीवन का निसर्ग से गहन संबंध स्पष्ट किया गया है, मानव जीवन से संलग्न विभिन्न विधाओं के लिए प्रतीकात्मक रूप से प्राकृतिक तत्त्वों को उपयुक्त किया गया है। उन्होंने कहा है, कि चीनी कला में विविध दिशा, ऋतु, स्वर, इत्यादि के लिए विविध रंग निश्चित किये गए हैं।

चीनी चित्रकार कु काइचीह् ने निसर्ग सौन्दर्यलक्षी ताओवाद का समर्थन किया है। उनके कला के लिए 'आत्मा का संचारण', 'दैवी आत्मा', 'जीवनगति की अभिव्यक्ति', इत्यादि कथन है; साथ ही 'कला यानि अनुकरण' इस परिभाषा को भी उन्होंने माना है। उनके मतानुसार कलाकार को पदार्थमय होकर उसमें निहित चैतन्य को खोजकर कला द्वारा उसे अभिव्यक्त करना चाहिए।

कु काइचीह् के समकालीन चित्रकार सुंग पींग का अभिगम भी निसर्गवादी रहा है।

चित्रकार वांग बेई के अनुसार कलाकृति में जीवन की चेतनामय प्रवृत्ति अभिव्यक्त होनी चाहिए। कलाकार को ज्ञानेन्द्रियों की मर्यादा से बाहर आकर प्रकृति के गूढ़ रहस्यों को ग्रहण करके कला में उनका आरोपण करना चाहिए। उनके मुताबिक कला रूप के माध्यम से उत्पन्न होती है, पर चेतना में लीन हो जाती है। चेतना को बाह्य, कलाकार से पर माना है।

चीनी चित्रकला के 'षडंग' के स्थापक शीह् हो के मतानुसार कला संवादयुक्त चेतना, जीवंत वस्तुओं से आत्मा का संवाद, आत्मा की जीवनगति है। उन्होंने भी चेतना को कलाकार से पर, बाह्यलक्षी माना है।

क्रेनमर बींग नामक अंग्रेज विद्वान ने कला पर झेन बुद्धिज़म का प्रभाव है, ऐसा माना है। उनके मतानुसार कलाकार को जगत के बाह्य रूप से विशेष भीतर जाकर उसके आंतरिक रहस्यों को ग्रहण करके वैश्विक चैतन्य से सायुज्य बनाना चाहिए। उन्होंने स्थूल तथा चेतनायुक्त तत्त्वों का एकत्रीकरण चीनी कलाकार की सिद्धि माना है।

चीनी कला विवेचक कुओ जो-सु के अनुसार कलाकार के वर्तन-व्यवहार में उसके मानस की, आत्मा की लाक्षणिकता स्पष्ट होती है।

चीनी कलासंस्कृति में कलाकार के व्यक्तित्त्व को अत्याधिक महत्त्व दिया गया है।

लीआंग वंश के सम्राट सीआओ ई का मत था, कि कलाकार को प्रकृति का गहन अभ्यास करना चाहिए। उनके अनुसार बाह्य जगत के निरीक्षण से वास्तव में कलाकार उसके प्रति अपनी आंतरदृष्टि विकसित करता है। वह कला में प्रकृति, जगत का अनुकरण नहीं करता, उस अनुभव को अपनी स्फूरित प्रेरणा के प्रभाव से अपने कौशल्य के माध्यम से प्रस्तुत करता है।

याओ त्सुई नामक विचारक के कथनानुसार हुबहू अनुकरण की अपेक्षा अवलोकित वस्तु के आंतरिक लक्षणों की प्रस्तुति करने वाली कला अधिक महत्त्वपूर्ण है।

विख्यात कवि, चित्रकार तथा संगीतकार वांग वेई मो-ची का मत है, कि कला के दृश्य स्वरुप की रचना से पूर्व कलाकार के मन में उसकी भावना - उसका मानसिक रूप - निर्धारित होना आवश्यक है।

चेंग येन-युआन नामक इतिहासकार के कथन अनुसार प्राचीन (चित्र) कला में बाह्य रूप की अपेक्षा आंतरिक चेतना को अधिक महत्त्व दिया जाता था, जो आधुनिक काल में विपरीत हो गया।

चित्रकार चींग हाओ ने कला में हुबहू बाह्य नक़ल तथा सौन्दर्य की अपेक्षा आंतरिक लाक्षणिकता तथा वास्तविकता के निरूपण को महत्त्वपूर्ण माना है।[२६]

ओकाकुश ने प्राच्य विचारों में झेन बुद्धिज़म का प्रभाव माना है। झेन से सौन्दर्य तत्त्व व्यवहारिक बना।

श्रीमती वींगेट नामक लेखिका के अनुसार चीनी कलासंस्कृति का आदर्श पूर्णतः आध्यात्मिक है।

चीनी कलाकार कुओ सी, ली लुंगमीन तथा सम्राट हुई स्तुंग इत्यादि ने चीनी संतों के इसी मत को माना है, कि धर्मरुपी वृक्ष का पुष्प यानि कला तथा फल यानि ज्ञान।

कुओ सी के मतानुसार कालांतर के साथ कलाकार को रूढ़ियों से बाहर आने का अधिकार है। स्वतंत्र कलात्मा ही सत्य को ग्रहण कर सकता है। उच्च कला-सर्जन हेतु कलाकार का स्वस्थ, प्रफुल्लित, आनंदित, स्वाभाविक, प्रमाणिक, नम्र होना उन्होंने आवश्यक माना है। उनके अनुसार कलाकार माध्यम का स्वामी होना चाहिए, सेवक नहीं।

जापानी कला विवेचक ताकी के मतानुसार पाश्चात्य कला अधिकतर बाह्यलक्षी या पदार्थलक्षी मार्ग का अनुसरण है, जबकि पूर्वीय कला अधिकतर आत्मलक्षी मार्ग अपनाती है।

चीन के साम्यवादी नेता माओ त्से-तुंग का अभिप्राय था, कि कला क्रांति-यंत्र का महत्त्वपूर्ण हिस्सा है। उनके मतानुसार समाज को उन्नति के मार्ग पर ले जाए, वही कला-सर्जन श्रेष्ठ है। उनके अनुसार कला ऐसी होनी चाहिए, जो समाज के तमाम वर्ग को प्रभावित कर सके। इसलिए उन्होंने कलाकारों को सभी जन-समुदायों की भावना, संवेदना, विचार से अवगत होने की अपील की है।[२७]

पूर्वीय परिप्रेक्ष्य में ‘कला’ संज्ञा से संलग्न अन्य कुछ पहलू इस प्रकार है :

बभ्रु ऋषि के पुत्र पांचाल ने कामशास्त्र पर १५० अध्यायों का ग्रंथ लिखा था, जिसमें कला की कुल संख्या ५८२ बताते है, जिनमें से ६४ को मूल कला तथा अन्य को अन्तरा कला - उन पर आधारित बताया गया है। उन्होंने ६४ मूल कलाओं को ४ वर्गों में विभाजित किया है : १. कर्माश्रया (२४), २. द्युताश्राया (२०), ३. सयनोपकारिका (१६) तथा ४. उत्तरा कला (४)।

उल्लेखनीय है, कि वात्सायन रचित 'कामसूत्र' के टीकाकार जयमंगल ने पांचाल के ६४ मूल कला के सिद्धांत को अनुमोदन नहीं दिया है। उनके मतानुसार अंतिम दो वर्ग सयनोपकारिका तथा उत्तरा कला के अंतर्गत रखी गई २० कला मूल कला नहीं है, उन्हें ६४ की संख्या पूर्ण करने के लिए अनुचित रूप से वह स्थान दे दिया गया है।[२८]

बौद्ध ग्रंथ 'ललितविस्तार' में ९५ कलाओं का वर्णन है। अन्य एक मतानुसार इस ग्रंथ में ८६ पुरुष विषयक तथा ६४ काम विषयक कलाओं का वर्णन है। बौद्ध ग्रंथों में ८४ कलाओं का वर्णन भी कुछ विद्वानों द्वारा माना गया है।

जैन ग्रंथ 'राय पसेणइयसुत्त', अन्य जैन ग्रंथ तथा जैन सूत्रों में कला की संख्या ७२ बताई गई है।

'यजुर्वेद' के ३०वें अध्याय में ६४ कलाओं का वर्णन है।

'शुक्रनीतिसार' में भी ६४ कलाओं को माना गया है।

वात्सायन रचित 'कामसूत्र' में ६४ कलाओं का वर्णन किया गया है।

'श्रीमद् भागवत्' में महानायक भगवान श्रीकुष्ण को १६ कलाओं से पूर्ण बताया गया है।

वात्सायन मुनि द्वारा वर्णित ६४ कलाओं के सिद्धांत को काफ़ी मान्यता मिली तथा उसका अत्याधिक प्रचार-प्रसार हुआ। इन ६४ कलाओं की सूचि इस प्रकार है :

०१. गीत : गायन

०२. वाद्य : वादन

०३. नृत्य : नर्तन

०४. नाट्य : नाटक

०५. आलेख्य	:	चित्र
०६. विशेष कच्छेद्य	:	मुख तथा शरीर पर रंगों से श्रृंगार
०७. तंड कुसुम कलि विकार	:	चावल तथा पुष्प से प्रसाद बनाना
०८. पुण्यास्तरण	:	शैय्या पर पुष्पाच्छादन
०९. दशन वस नांग राग	:	दांत, शरीर तथा वस्त्र की सफाई
१०. मणिभूमिका-कर्म	:	आभूषण बनाना
११. शयन रचना	:	शय्या बनाना
१२. उदकवाद्य	:	उदक (जलतरंग जैसा) वाद्य बजाना
१३. उदकघात	:	पानी छिड़कना
१४. चित्रायोग	:	रंगों का मिश्रण (मिलावट) करना
१५. माल्यग्रंथविकल्प	:	माला या गजरा बनाना
१६. केशाखिराशि	:	मुकुट धारण
१७. नेपथ्ययोग	:	वस्त्रादि से सज्ज होना
१८. कर्णयत्रभंग	:	कर्ण विच्छेदन, कर्ण सजावट
१९. सुगंधयुक्ति	:	सुगंधित द्रव्यों का प्रयोग करना
२०. भूषणयोजन	:	आभूषणों का आयोजन करना
२१. इन्द्रजालयोग	:	जादू
२२. कोचुमारयोग	:	एक प्रकार की कला
२३. हस्तलाघव	:	हस्त कौशल्य, हस्त चातुर्य
२४. विचित्रशाकपूप लक्ष्य-विकार	:	स्वादिष्ट आहार बनाना
२५. पानक रस	:	स्वादिष्ट पेय पदार्थ बनाना
२६. सूचिकर्म	:	सिलाई-बुनाई
२७. सुत्रक्रीड़ा	:	धागे का काम (भरतकाम)
२८. प्रहेलिका	:	पहेली बनाना, सुलझाना
२९. प्रतिमाला	:	श्लोक-पद आदि की प्रतिस्पर्धा

३०. दुर्वाचिक योग	:	कठिन भाषाभ्यास
३१. पुस्तक वाचन	:	पुस्तक पढ़ना
३२. नाटिकाख्यायिका दर्शन	:	छोटी कहानी को अभिनीत करना
३३. काव्य समस्या पूरण	:	गूढ़ काव्य का अर्थघटन
३४. पट्टिकावेत्र-वाण विकल्प	:	ढाल, छड़ी, तीर, इत्यादि बनाना
३५. तुर्क कर्म	:	कताई
३६. तक्षण	:	काष्ठकला, बढ़ईगिरी
३७. वास्तुविद्या	:	अभियांत्रिकी, इजनेरी
३८. रूप्य रत्नपरीक्षा	:	कीमती द्रव्य, रत्न आदि परखना
३९. धातुर्विद्या	:	धातु कर्म
४०. मणिरागज्ञान	:	मणि इत्यादि काटना, घिसना
४१. आकरज्ञान	:	खनिज विद्या
४२. वृक्षायुर्वेदयोग	:	आयुर्वेद
४३. मेण कुक्कुर लायक युद्धविधि	:	विभिन्न पशु-पक्षी से युद्ध की विशेष पद्धति
४४. शुक्र सारिका-प्रलापन	:	नर-मादा काकातुआ पक्षी की बोली का ज्ञान
४५. उत्सादन	:	इत्र का प्रयोग
४६. केश-मार्जन कौशल	:	केश-कला
४७. अक्षर मुष्टिका कथन	:	हाथ के इशारे से बात-चीत
४८. मलेच्छिक विकल्प	:	अनैच्छिक बाह्य तत्त्वों का बहिष्कार
४९. देश-भाषा ज्ञान	:	प्रांतीय बोलियों का ज्ञान
५०. पुष्पशंकटिकानिमित्तज्ञान	:	दैवी ध्वनि से भविष्यवाणी समझना
५१. यंत्र मातृका	:	यंत्र विद्या
५२. धारण मातृका	:	तावीज़ विद्या
५३. संपाठ्य	:	संभाषण, संवाद, वार्तालाप
५४. क्रिया विकल्प	:	साहित्यिक या वैदिक रचना

५५. मानसी काव्यक्रिया	:	मानसिक काव्य रचना (शीघ्र कवित्त्व)
५६. छलित कयोग	:	मंदिर आदि का निर्माण
५७. अभिधान कोषच्छन्दोज्ञान	:	छंद,कोष, आदि का ज्ञान
५८. वस्त्र गोपन	:	वस्त्र छिपाना
५९. धूतविशेष	:	द्यूत-क्रीड़ा
६०. आकर्षण क्रीड़ा	:	पासा या चुम्बक का खेल
६१. बाल क्रीड़ाकर्म	:	बालक संबंधी क्रिया
६२. बैनायिकी विद्याज्ञान	:	अनुशासन का पालन करवाना
६३. वैजयिकी विद्याज्ञान	:	विजय-प्राप्ति
६४. बैतालिकी विद्याज्ञान	:	भोर में संगीत से (मालिक को) जगाना[२९]

भर्तुहरि ने कहा है, कि :

"साहित्य संगीतकलाविहीन: साक्षात्पशु: पुच्छविषाणहीन :।"

अर्थात्, साहित्य, संगीत तथा कला विहीन मनुष्य पुच्छ विहीन पशु समान है।[३०]

आदि मानव ने शुरुआत में पशुवत् जीवन व्यतीत किया, पर अन्य प्राणीओं से भिन्न जिज्ञासावृत्ति के कारण क्रमश: उसका विकास होता गया। उसने अपनी आवश्यकताओं को समझते हुए विकास किया। समतुला, निश्चित व्यवस्था तथा आनंदप्राप्ति जैसी मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु किये गए (या तो अजाग्रत रूप से हुए) प्रयासों से कला का उद्भव एवं विकास हुआ। पाकशास्त्र, आवास-रचना, वस्त्राभूषण परिधान, चित्र-आकृतिओं-मूर्ति का आलेखन-निर्माण, विभिन्न अवसर पर वाद्यों के साथ नाच-गान पारंपारिक कथानक, इत्यादि विधाएँ तथा उनका क्रमशः विकास उपरोक्त बात का प्रमाण है।

आदिकाल से जीवन का अविभाज्य अंग बनी हुई कला को सुसंस्कृत मनुष्य ने गंभीरतापूर्वक अपनाया है। कला जैविक प्रक्रिया है, जो यथार्थ का मनोगत आलेखन करके संतोष एवं आनंद की प्राप्ति करवाती है, मनुष्य को मानवीय जीवन प्रदान करती है।

सौन्दर्यप्रेम मनुष्य का स्वाभाविक गुण रहा है। अपने ज्ञान, शिक्षा, संस्कृति, के अनुसार वह सभी मनुष्य में निहित होता है। सौन्दर्यप्रेम कलाओं का प्रेरक, उद्दीपक बल है। बुद्धि अर्थ-आनंद का, जबकि हृदयस्थित भाव सौन्दर्यानंद का मार्ग बनते हैं।

भारतीय संस्कृति के केन्द्र में धर्म तथा आध्यात्म रहे हैं। क्योंकि कला संस्कृति का अविभाज्य अंग है, भारतीय कला का भी धर्म तथा आध्यात्म से घनिष्ठ संबंध रहा है। धर्म में कहीं न कहीं कला को बुन लिया गया है, तथा कला के अनेक पहलूओं में एक आध्यात्मिकता भी है। मोहन-जो-दड़ो तथा हड़प्पा जैसी संस्कृति के अवशेषों से प्राप्त देवी-देवता की प्रतिमाएँ धर्म तथा (शिल्प) कला के प्राचीन काल से चले आ रहे संयोग का उदाहरण हैं। भारत में एक परंपरा-सी रही है, कि समाज के लिए जो आवश्यक, सराहनीय हो, उन्हें अक्सर धर्म से जोड़ दिया जाता है, जिससे उसके प्रति समाज की श्रद्धा बनी रहे। हमारे ऋषिमुनिओं ने कला की महत्ता तथा उसके प्रचार-प्रसार की आवश्यकता को समझते हुए ही उसे धर्म के विधि-विधानों में स्थान दिया होगा, ऐसा मानना अनुचित नहीं है। साथ ही, हमारी कला में धर्म इतना समाविष्ट हो गया है, कि वह धर्म-प्रचार-प्रसार का एक माध्यम हो सकती है।

भक्ति एवं कला को समान माना गया है। जिस प्रकार भक्ति में आराध्यदेव का, उसी प्रकार कला में कलावस्तु का ध्यान, उसकी आराधना की जाती है। इस प्रकार कला एक प्रकार का योग ही है। कला के लिए भी (सामान्य व्यवहार में जिसे 'योग' कहा जाता है , वह) योग आवश्यक माना गया है। बौद्ध साहित्य में कहा गया है, कि कलाकार या कला साधक को विधिपूर्वक शुद्धि; बुद्ध तथा बोधिसत्त्वों की आराधना;

मैत्री, करुणा, सहानुभूति, निःस्वार्थता, इत्यादि भावों तथा आराध्यदेव का ध्यान; इत्यादि पवित्र कार्यों के पश्चात् कला-सर्जन करना चाहिए। हिन्दु साहित्य में भी कला से पूर्व योग साधना को सराहनीय बताया गया है। वाल्मीकि ऋषि ने राम-कथा के ज्ञाता होने के बावजूद भी 'रामायण' की रचना करने से पूर्व अपनी कथा-वस्तु का ध्यान किया था। अपनी योग-शक्ति के माध्यम से उन्होंने संपूर्ण रामायण का दर्शन करके उसका लेखन शुरू किया। इस प्रकार भारतीय संस्कृति में कला का योग से घनिष्ठ संबंध माना गया है।[३१]

प्रकृति इश्वर की कला है, जो सदैव मनुष्य-कला की प्रेरणा बनी। मनुष्य ने प्रकृति को मनोगत रूप देकर कला के रूप में प्रस्तुत किया। प्रकृति तथा कलाकृति में जो तफ़ावत है, वह कलाकार की कल्पना के कारण है (जिसका कला में अत्याधिक महत्त्व है)।

कला के दो पक्ष हैं : अंतर्वस्तु (भाव) तथा रूप। विषय तथा शैली का उचित समन्वय कला है। कलाकार अपने भाव जगत में मंथित अभिव्यंजक सामग्री को प्रतीकों के माध्यम से अभिव्यक्त करता है।

कला संस्कृति का दर्पण होने के साथ संस्कृति की पोषक भी है। संस्कृति और कला का संबंध अतूट है। समाज में सदव्यवहार, सदाचार, उच्च चरित्र, इत्यादि तत्त्वों को उजागर करने में कला महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा सकती है।

भारतीय परिप्रेक्ष्य में कला का प्रमुख लक्ष्य क्षण भंगुर ऐन्द्रिय मनोरंजन न होते हुए हृदय स्पर्शी, निरन्तर बना रहने वाला आनंद है। अनेक लौकिक उपयोग के बावजूद उच्चतम तल पर कला को अलौकिक माना गया है।

वास्तव में कला मनोगत भावनाओं को विभिन्न माध्यमों से अन्यों के समक्ष प्रस्तुत करती है। सर्जन का रहस्य यही है : "सः एकः न रमते।" अर्थात् उसे (मनुष्य को) अकेलापन पसंद नहीं था।[३२]

भारतीय तत्त्वज्ञान (दर्शन) के अंतर्गत मानव-जीवन के तीन मूलभूत मूल्य बताये गए हैं : 'सत्यम्', 'शिवम्' तथा 'सुन्दरम्'। तीनों में से किसी की भी साधना आध्यात्मिक उन्नति की ओर ले जाती है। इन मूल्यों की साधना के मार्ग अनुक्रम से विज्ञान, धर्म, तथा कला को माना गया है।

वास्तविकता, कल्याणकारिता तथा सुन्दरता के पर्याय इन मूल्यों के साथ अनुक्रम से समज, स्वीकार तथा साक्षात्कार को संलग्न माना गया है।[३३]

विदीत है, कि भारतीय संस्कृति में सौन्दर्य तथा उसकी साधना के मार्ग कला को आध्यात्मिक उन्नति का मार्ग माना गया है। कला का सौन्दर्य से संलग्न होना अनिवार्य रूप से आवश्यक प्रतीत होता है।

भारतीय कला का अंतर्तय लक्ष्य परम तत्त्व की अनुभूति है। भारत में कला को मोक्षप्रद कहा गया है।

- **कला संबंधी पाश्चात्य एवं पूर्वीय मत की तुलना :**

मानव-विकास का यदि वैश्विक स्तर पर मूल्यांकन किया जाए, तो विदीत होता है, कि मानव-संस्कृति के कुछ पहलुओं का उद्भव, विकास हरेक देश में, हर प्रदेश में स्थानिक रूप से हुआ है, तथा कुछ पहलुओं का उद्भव, विकास किसी निश्चित प्रदेश-विशेष में होकर सांस्कृतिक आदान-प्रदान के सिलसिले में अन्य प्रदेशों में उनका प्रचार-प्रसार हुआ है। स्वाभाविक रूप से प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाली विधाओं का उद्भव हर प्रदेश में हुआ, क्योंकि वे अनिवार्य थीं। भिन्न-भिन्न स्थानों पर उद्भवित एवं विकसित होने के कारण इन विधाओं में प्रादेशिक दृष्टि से काफ़ी वैविध्य रहा, साथ ही मानवीय आवश्यकताओं की समानता के कारण विभिन्न प्रदेश की होने के बावजूद भी उनमें कुछ साम्य रहा।

अन्न, वस्त्र तथा आवास मनुष्य की प्राथमिक आवश्यकताएँ मानी जाती है। इनसे संलग्न विधाएँ - रसोई-कृषि-शिकार, सिलाई-बुनाई तथा बढ़ईकाम-लोहारीकाम-चिनाईकाम इत्यादि का उद्भव स्थानिक रूप से हुआ। इनके पश्चात् अभिव्यक्ति - संवाद के रूप में चित्र, संगीत, भाषा(साहित्य), इत्यादि का उद्भव एवं विकास हुआ। अतः स्पष्ट है, कि कलाओं का उद्भव एवं प्राथमिक विकास भिन्न-भिन्न स्थानों पर प्रादेशिक रूप से हुआ। क्योंकि उनका निर्माण सभी स्थान पर मनुष्य ने ही किया, तथा यातायात की सुविधा विकसित होने के बाद उनका आदान-प्रदान भी होता रहा, उनमें स्थानिक वैशिष्ट्य के साथ कुछ साम्य भी अवश्य रहा।

इस प्रकार, वैश्विक स्तर पर कला तथा उससे संबंधित पहलुओं पर विचार किया जाए, तो प्रांतीय कक्षाओं में परस्पर कुछ समानता तथा कुछ भिन्नता पाई जाती है। संस्कृति का घटक तत्त्व होने से उसीकी तरह मोटे पैमाने पर कला तथा उससे संलग्न मतों को भी पाश्चात्य तथा पूर्वीय - इन दो विभागों में बाँटा जाता है,

जिनकी वैयक्तिक चर्चा हो चूकी है। उनकी साम्यता तथा भिन्नता को ध्यान में रखकर तुलनात्मक विवरण इस प्रकार है :

क्योंकि कला मानवीय विधा है, उसको लेकर पूर्व-पश्चिम के मानव का विचार काफ़ी एकरूप पाया जाता है। प्राचीन काल से दोनों संस्कृति में कौशल्यप्रधान कार्य के लिए 'कला' संज्ञा का प्रयोग हुआ है - 'कला' का तात्पर्य कौशल्य से है। इसके अंतर्गत जिन विधाओं की गणना होती है, उनमें भी एकरूपता पाई जाती है। दोनों संस्कृति में कला को प्रकृति से काफ़ी करीब माना गया है। प्रकृति को कला की प्रेरणा तथा कला को प्रकृति का अनुकरण पूर्वीय तथा पाश्चात्य विद्वानों ने माना है। दोनों संस्कृति में कला को भावना, संवेदना की अभिव्यक्ति का माध्यम माना गया है। वास्तविकता के साथ कला में कल्पना तत्त्व की उपस्थिति भी दोनों के विद्वानों ने स्वीकार की है। पूर्व-पश्चिम दोनों के अनुसार कला सौन्दर्य को उजागर करके आनंदानुभूति प्रदान करती है। दोनों विचारधाराओं में सामान्यतः कला को मनोरंजक मानने के उपरांत इश्वर के काफ़ी समीप ले जाने वाली, इश्वर-आराधना में सहायक माना गया है।

तफ़ावत मुख्यतः यह है, कि पाश्चात्य संस्कृति की अपेक्षा पूर्वीय संस्कृति में कला के आंतरिक रूप को अत्याधिक महत्त्व दिया गया है। पूर्वीय, खास तौर पर भारतीय कला के मर्म को समझने के लिए सूक्ष्म दृष्टि की आवश्यकता है। कला के प्रति भारतीय दृष्टिकोण आत्मवादी रहा है। यहाँ की धार्मिक, आध्यात्मिक संस्कृति में समाज के लिए इच्छनीय प्रायः सभी चीज़ों को धर्म से जोड़ दिया गया है, जिनमें कला भी समाविष्ट है। वैदिक काल में पूजा के विधि-विधानों में कला की उपस्थिति रही। हमारे विभिन्न देवी-देवताओं को विभिन्न कलाओं से संलग्न, उनके सर्जक माना गया। धार्मिक या आध्यात्मिक दोनों दृष्टियों से कला को परमतत्व से अत्यंत करीबी माना गया है। कला-साधना को अत्यंत पवित्र, परमात्मा की आराधना का सचोट माध्यम माना गया है। उल्लेखनीय है, कि कला की संख्या - ६४ - भी (पारंपारिक

रूप से) एक पवित्र संख्या मानी जाती होने से उसे तय किया गया है। इस संस्कृति में कला को आत्मानुभूति की अभिव्यक्ति माना गया है, आत्मखोज, आत्मा से परमात्मा का अनुसंधान माना गया है। भारतीय कलाओं में विषय-वस्तु के रूप में परमात्मा को विपुल प्रमाण में लिया गया है। भारतीय दर्शन के अंतर्गत सौन्दर्य को मानव जीवन के तीन (३) मूलभूत मूल्यों में से एक का स्थान दिया गया है तथा कला को उसकी उपासना का मार्ग माना गया है, यही उसकी आध्यात्मिक महत्ता का प्रमाण है। कला संबंधी पाश्चात्य विचार रजोगुणप्रधान, उसे प्रेयस्कर मानने वाले हैं, जबकि पूर्वीय विचार सत्त्वगुणप्रधान, उसे श्रेयस्कर मानने वाले हैं।

पाश्चात्य संस्कृति में कला को अत्याधिक प्रमाण में मनो-मस्तिष्क से संबंधित माना गया, जबकि पूर्वीय में, विशेषतः भारतीय संस्कृति में उससे एक स्तर आगे, आत्मा से संलग्न माना गया है। भारत के कला संबंधी ख्यालों, विचारों तथा सिद्धांतों पर अति प्राचीन काल से भारतीय तत्त्वज्ञान तथा दर्शनशास्त्र का प्रभाव रहा है। पाश्चात्य कला की नींव या प्रेरणा मनो-शारीरिक, जबकि पूर्वीय कला की नींव या प्रेरणा आध्यात्मिक संतुष्टि, परितृप्ति रही। पाश्चात्य कला-सिद्धांतों की अपेक्षा भारतीय कला-सिद्धांतों को अधिक शाश्वत माना गया है, जिनमें पाश्चात्य सिद्धांतों की अपेक्षा समयांतर पर भी बहुत अल्प प्रमाण में परिवर्तन आए हैं। यही कारण है, कि भारतीय कलाओं में पारंपारिक सांस्कृतिक मूल्यों का दर्शन सदैव होता रहा है। पाश्चात्य कला एवं कला-सिद्धांतों को बहिर्मुखी, जबकि पूर्वीय कला एवं कला-सिद्धांतों को अंतर्मुखी एवं अत्यंत गहन माना गया है।[३४]

सुप्रसिद्ध फ्रांसीसी लुई रेनु ने कहा है, कि "भारत की प्रतिभा से ज्ञान की जितनी भी शाखाएँ उत्पन्न हुई हैं, उनमें सौन्दर्यशास्त्र जितने गहरे रूप में भारतीय है उतना कोई और नहीं।"

मुनरों के अनुसार, “पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक भारतीय रस सिद्धांत से सौन्दर्यानुभूति के विभिन्न भावमूलक रूपों के वर्गीकरण की पद्धति सीख सकता है। पाश्चात्य चिंतन जहाँ ऐन्द्रिय आनंद में पाप बोध का अनुभव करता है, वहाँ हिन्दू दर्शन ऐन्द्रिय और आध्यात्मिक अनुभवों को परस्पर संबंध कर किसी भी प्रकार के पाप बोध की पीड़ा से मुक्त है।”[३५]

- **कलाकार :**

क्योंकि कला में कलाकार का योगदान अत्याधिक महत्त्वपूर्ण है, कलाकार के बिना कला संभव नहीं, यहाँ कलाकार के लक्षण, विशिष्टता, कार्य, इत्यादि का विश्लेषण प्रस्तुत है।

कान्ट के अनुसार कलाकार कला-लक्षी नियमों को अत्याधिक आधीन नहीं होकर भी (आवश्यकतानुसार) उनका पालन करते हुए सर्जन करता है।

प्लोटीनस के मुताबिक प्रकृति तथा कलाकार, दोनों की सर्जन-प्रवृत्ति में साम्य है। कलाकार अक्सर प्रकृति से प्रेरणा लेता है।[३६]

क्रोचे के मतानुसार कलाकार तथा साधारण मनुष्य में फर्क संख्यात्मक है, गुणात्मक नहीं। कलाकार में आत्यंतिक स्तर की संवेदनशीलता तथा असंवेदनशीलता होनी चाहिए। उनके अनुसार संवेदनशीलता कला-सर्जन की सामग्री एकत्रित करने में तथा असंवेदनशीलता या ताटस्थ्य एकत्रित सामग्री पर प्रभुत्त्व रखते हुए उन्हें आकारित करने में सहायक है।[३७]

प्लेटो ने कलाकार को इश्वर के समान माना है।

भारतीय संस्कृति में प्रजापति ब्रह्मा को प्रथम कलाकार माना जाता है। प्राचीन भारतीय कला-साहित्य में पारिणी ने कलाकार के लिए 'शिल्पी' शब्द का प्रयोग किया है।

वस्तुतः कलाकार कला सृजन का चेतन माध्यम है। वह अपनी आंतरिक अनुभूति को अभिव्यक्त करने कला-सर्जन करता है, उसे बाह्यवृत्ति में आकारित करता है। कलाकार की अनुभूति जितनी अधिक संवेदनात्मक होगी, उसके द्वारा सर्जित कृति उतनी ही उत्कृष्ट होगी।

'धर्मोत्तर पुराण' के 'चित्रसूत्र' में कलाकार के कार्य को दुष्कर माना गया है। 'अग्निपुराण' में कलाकार के लिए योगी के समान संयम-नियमयुक्त आचरण का निर्देश दिया गया है।[३८]

'समरांगण सूत्रधार' ग्रंथ में कलाकार के लिए इन गुणों को आवश्यक माना गया है :

१. प्रज्ञा या अंतर्ज्ञानयुक्त ध्यानावस्था।

२. प्रभावपूर्ण निरिक्षणशक्ति।

३. लंबे अरसे के अभ्यास से प्राप्त हस्तकौशल्य।

४. प्रमाणशास्त्र तथा संतुलन का ज्ञान।

५. स्थिर तथा गतियुक्त या आवेशयुक्त मानव एवं पशुओं की शरीररचना का ज्ञान (चित्र, शिल्प, इत्यादि के लिए)।

६. तत्काल मति।

७. चारित्र्य एवं आत्मसंयम।

'शिल्पशास्त्र' में भारतीय मूर्तिकार के लक्षणों का वर्णन है, जो अन्य कलाकारों के लिए भी उपयुक्त है। इनमें समाविष्ट लक्षण इस प्रकार हैं :

१. अथर्ववेद, ३२ शिल्पशास्त्र तथा मूर्तिप्रतिष्ठा के वेदमंत्रों (शिल्पी के लिए) का ज्ञान होना चाहिए।

२. यज्ञोपवीत, रुद्राक्ष की माला तथा कुश की अंगूठी पहननी चाहिए।

३. इश्वर में आस्था होनी चाहिए।

४. एकपत्नीत्त्व का पालन करना चाहिए।

५. विज्ञान का ज्ञान होना चाहिए।

६. अच्छा मानव होना चाहिए (मानवीय गुण होने चाहिए)।

७. आलसी तथा क्रोधी नहीं होना चाहिए।

८. पवित्र, ज्ञानी, आत्मसंयमी, भक्त तथा उदार होना चाहिए।

९. ऐसा भी कहा गया है, कि कलाकार को एकांत में या अन्य कलाकार की उपस्थिति में कला-सर्जन करना चाहिए। अन्य सामान्य व्यक्ति की उपस्थिति में कदापि कला-सर्जन नहीं करना चाहिए।[३९]

'दशरूपक' के अंत में धनंजय ने कहा है, :

"रम्य जुगुप्सितमुदारमथापि नीच मुग्रं प्रसादि गहनं विकृतं च वस्तु।
यद्वाप्यवस्तु कविभावकभाव्यमानं तन्नास्ति यन्न रसभावमुपैती लोके।।'

अर्थात्, जगत में रमणीय, जुगुप्साजनक, उदार, नीच, उग्र, प्रसन्नतादायी, गहन, विकृत या काल्पनिक - कोई भी वस्तु को विषय बनाकर कलाकार रसास्वादन करवाने सक्षम है।

'ध्वन्यालोक' में आनंद वर्धनाचार्य ने कहा है, :

"अपूर्व यद्वस्तु प्रथयति विना कारणंकला
जगञ्द्रावप्रख्यं निजरसभरात्सारयति च।
क्रमात्प्रख्योपाख्याप्रसरसुभगं भासयति त
सरस्वत्यास्तत्वं कविसहृदयाख्यां विजयतात्।।"

अर्थात्, कलाकार (जो) जगत के कार्यकारणभाव के नियम को अनुसरे बिना अपूर्व वस्तु प्रकट करता है, पत्थरवत् जगत को रसमय, सारयुक्त बनाता है, उसकी शोभा में अभिवृद्धि कर उसे देदिप्यमान बनाता है, उसकी विजय हो।[४०]

जैसे-जैसे कलाकार में मानवीय, आध्यात्मिक तत्त्वों, जैसे कि आनंद, निवेदन, भक्ति उजागर होंगें, वैसे-वैसे उसकी कला समृद्ध एवं उत्कृष्ट बनेगी।[४१]

श्री माताजी ने कलाकार को योगी की श्रेणी में माना है। उनके अनुसार कलाकार कला के विषयवस्तु का (योगी की तरह) अपनी अंतर चेतना में गूढ़ एकाग्रता से साक्षात्कार करने के पश्चात् ही उसे बाह्य रूप देता है। इस प्रकार कला साधना भी योग साधना के बराबर ही है। उनके मतानुसार सच्चे कलाकार को ज्ञात होता है, कि वह उर्ध्व दिव्य जगत तथा स्थूल पार्थिव जगत के बीच का सेतु है। माताजी का कथन है, कि कलाकार की कला के माध्यम से स्वयं परमात्मा प्रकट होते है।[४२]

अत्यंत सराहनीय एवं महत्त्वपूर्ण बात यह है, कि जिस परमानंद की अनुभूति योगी कठोर तपस्या, साधना से कर पाते हैं, वह सक्षम कलाकार को सहज-साध्य, सहज-प्राप्य है। साधना, तपस्या तो कला में भी अनिवार्य है, पर यह मार्ग सौन्दर्य-सभर होने से कठोरता कम होती है।

कलाकार के लिए कुछ महत्त्वपूर्ण बातें इस प्रकार हैं :

१. नैसर्गिक रूपों का गहन निरीक्षण।

२. पदार्थ के विभागों की परस्पर संवादिता तथा सप्रमाणता का निरीक्षण।

३. पदार्थ को वातावरण से भिन्न देख सकने की क्षमता।

४. पूर्व निरीक्षित पदार्थ को सहजरूप से संपूर्ण चैतन्य में ला सके ऐसी स्मृति।

५. उच्च कल्पना और आंतरिक प्रेरणा।

६. कल्पना तथा स्फूरणा को मूर्त स्वरुप प्रदान करने के लिए सक्षम हस्त-कौशल्य।

७. एकाग्र चित्तावस्था।

८. कला के मर्म तक जाने की क्षमता।

९. उच्च कल्पनात्मक प्रतिभा।

१०. अभिव्यक्ति की उच्च क्षमता।[४३]

कलाकार की तरह सौन्दर्य के अनुभव तो साधारण मनुष्य भी करता है, पर कलाकार की विशिष्टता अनुभूति की अभिव्यक्ति (की क्षमता) है। कलाकार बनने के लिए अगाध संवेदनशीलता, कल्पनाशक्ति, विशुद्ध सौन्दर्यदृष्टि तथा अभिव्यक्ति की (मानसिक एवं शारीरिक) क्षमता अनिवार्य है।

कलाकार प्रकृति का अवलोकनकार तथा विवरणकार हो, बाह्यजीवन, आसपास की वास्तविकता के प्रति रस एवं दृष्टि हो, विभिन्न वस्तु का सायुज्य साधने की क्षमता हो, कला-रसिक की अपेक्षा से ज्ञात हो, वह आवश्यक है।

आकारद मानसशास्त्र के मुताबिक कलाकार के व्यक्तित्त्व के तीन प्रकार है : १. सहानुभुतियुक्त व्यक्तित्त्व, २. आसुरीवृत्ति और सहानुभूति में संतुलनयुक्त व्यक्तित्त्व तथा ३. अराजकवृत्तियुक्त व्यक्तित्त्व।[४४]

कलाकार को आत्मा की आवश्यकता का ज्ञान होना चाहिए। उसका सर्जन मनुष्य की आत्मा तक पहुँच पाए, वह सराहनीय है।

उल्लेखनीय है, कि हमेशा सर्जन कलाकार के पूर्ण नियंत्रण में होता ही है, ऐसा नहीं है। कई बार वह बाहरी तत्त्वों से प्रभावित तो होता ही है, पर महत्त्वपूर्ण बात यह है, कि कई बार कलाकार की भीतरी शक्ति, उसकी रूह - आत्मा इस तरह सर्जन आकारित करती है, जिससे स्वयं कलाकार भी अवगत नहीं हो पाता।

कलाकार का कार्य दो भिन्न पदार्थ - भावना एवं बुद्धितत्त्व के उचित सायुज्य से होता है। श्रेष्ठ कला के लिए दोनों के प्रमाण में संतुलन अत्यंत आवश्यक है।

'संगीत रत्नाकर' में गायक के पंचविध भेद का वर्णन है, जो अन्य कलाकारों को भी लागु होते हैं। ये भेद इस प्रकार है : १. 'शिक्षाकार' - जो शिक्षा में दक्ष हो, २. 'अनुकार' - जो अन्य कलाकारों का अनुकरण करता हो, ३. 'रंजक' - जो प्रेक्षक या

श्रोता का रंजन करने में माहिर हो, ४. 'भावक' - जो भावोत्पादक कला करता हो, तथा ५. 'रसिक' - जो स्वयं रसमग्न हो। इनमें 'रसिक' को सर्वोच्च स्थान प्रदान किया गया है।[४५]

कला तथा कलाकार से संलग्न कुछ पहलू हैं, जिनका विश्लेषण यहाँ प्रस्तुत है।

कलाकार की कलात्मक प्रतिभा के विषय में कला शास्त्रीओं का मत है, कि वह इश्वर या प्रकृतिदत्त विशिष्ट शक्ति है, जो कलासृजन के लिए अनिवार्य है। यह शक्ति ज्ञानार्जन तथा अनुभव से अधिक मुखर बनाई जा सकती है। इस प्रतिभा को उजागर करने में वंशानुगत संस्कार, गुरुनिष्ठा-गुरुकृपा, एकांत साधना, इष्ट साधना, इत्यादि का भी प्रदान है।

भारतीय कलाकार ने अपने सर्जन में भौतिकता की अपेक्षा आध्यात्मिकता को अधिक स्थान दिया है। आत्मा की परमात्मा से मिलन की झंखना भारतीय कला में उजागर हुई है, व्यक्त हुई है। भारतीय कलाकार के समक्ष आदर्श रखा गया है, कि जिसकी श्रान्ति भोग में है, वह कला नहीं, अपितु बंधन है। जो कला परमतत्त्व की ओर उन्मुख करती है, वही कला है। अतः भारतीय कलाकार केवल शारीरिक अनुरंजन को कला का लक्ष्य न मानते हुए बौद्धिक, मानसिक, सांस्कृतिक, तथा आध्यात्मिक उन्नति की ओर ले जाने के लिए सक्षम कृति का सर्जन करने प्रयत्नशील रहता है।

मनुष्य जाति के सर्वोत्कृष्ट कल्याणकारी विषयों तथा अत्यंत कीमती आंतरिक अनुभवातीत धारणा को प्रकट करना ही कलाकृति का चरम लक्ष्य माना गया है।

कलाकार द्वारा अभिव्यक्त अनुभूति का रसिक (प्रेक्षक/श्रोता) आस्वादन करता है, उसे समजता या अनुभव करता है। वह स्वयं सर्जन-क्षमतारहित होने के बावजूद भी प्रकृतिदत्त एवं संस्कारगत प्राप्य संवेदनशीलता के कारण कलाकृति को उचित न्याय दे पाता है, जो कला जगत के लिए सराहनीय है। शास्त्रकारों के अनुसार प्रेक्षक

के सफल प्रेक्षण के लिए कलात्मक अभिरुचि, उचित परिवेश, विषय संबंधी ज्ञान, उच्च बौद्धिक स्तर, अभिव्यक्ति की क्षमता, कलाकार की भावभूमि का ज्ञान, देश धर्म - युग धर्म का ज्ञान, इत्यादि आवश्यक पक्ष है। कलासंरक्षकों तथा कलासंवर्धकों में यह क्षमता संस्कारगत वंशपरंपरा से प्राप्य दृश्यमान होती है।[४६]

कलाकार के सर्जन में श्रोता या प्रेक्षक का स्थान अत्यंत महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि उन्हें आकर्षित करने के लिए सक्षम कृति ही कलाकार का प्रयास है। रसिक की अभिरूचि के मुताबिक कला-सर्जन होता है। रसिक एवं कला की उत्कृष्टता का स्तर परस्परावलंबी है। उच्च कला रसिक में उच्च पसंद उजागर करेगी तथा उच्च पसंद उच्च कला का निमित्त बनेगी। कलाकार का प्रयास उसके रसिकों के प्रतिसाद को समझ पाना हमेशा रहता है। संगीत जैसी कला में तो कलाकृति के प्रस्तुतीकरण के दौरान ही श्रोता-प्रेक्षक की प्रतिक्रिया प्राप्त हो जाने से कृति उनकी रूचि अनुसार आकार ले सकती है, लेती है। कुछ प्रमाण में वह सहकार्यकर्ता है। कलाकार का अपने रसिकों से उतना संबंध आवश्यक है, जिससे उनकी अभिरुचि ज्ञात हो सके। कलाकृति को लेकर कलाकार तथा रसिक का अनुभव परस्पर विपरीत है। कलाकार के लिए वह आंतरिक से बाह्य है, जबकि रसिक के लिए वह बाह्य से आंतरिक है।

कलाकार द्वारा सर्जित कला की समीक्षा का कार्य कला समीक्षक का है। उसमें रसिकता के कला संबंधी पहलूओं का उच्च ज्ञान होना आवश्यक है। समीक्षक केवल कला का परीक्षण न करते हुए, प्रेक्षक तथा कलाकार के मध्य माध्यम का कार्य भी करता है। समीक्षा कलाकृति की जन्मदात्री नहीं है, परंतु उसकी रचना प्रक्रिया में योगदान अवश्य देती है। प्रेक्षक तथा समीक्षक द्वारा कलाकृति को मान्यता प्राप्त होती है।

प्रेक्षक तथा समीक्षक के उपरांत कला-सर्जन में कुछ भूमिका दार्शनिक भी अदा करता है। दार्शनिक कलाकृति के साथ समीक्षक का भी आकलन एवं मूल्यांकन करता है। वह समीक्षक की समीक्षा का भी विश्लेषण करता है।[४७]

क्रोचे जैसे विद्वान के अनुसार कलाकार तथा साधारण मनुष्य में तत्त्वतः कोई भेद नहीं है। कलाकार में प्रायः दो प्रकार है : जन्मजात तथा तालीमकृत। प्रथम प्रतिभा से, जबकि द्वितीय प्रशिक्षण से बना है। (स्वाभाविक रूप से इन दोनों का सायुज्य उत्कृष्ट कलाकार बनाता है।) ये दो ही चीज़ हैं, जो कलाकार को साधारण मनुष्य से अलग बनाती है। इनमें भी प्रशिक्षण तो साधारण मनुष्य के लिए भी संभव है। (विदीत है, कि प्रतिभा के बिना कलाकार एक स्तर से आगे नहीं जा सकता।) एलेक्झान्डर पॉप ने कहा है, कि कलाकार का कार्य वह है, जिसे सब (साधारण मनुष्य) ने अनुभव किया, परंतु उत्कृष्ट तरीके से अभिव्यक्त नहीं किया (नहीं कर पाया)।[४८]

वर्डझवर्थ का कथन है, कि कलाकार अन्य मनुष्यों की अपेक्षा अधिक संवेदनशील, कोमल, उत्साही होता है, उसे मानवमन का अधिक ज्ञान होता है। उसके आत्मा की कक्षा अधिक विस्तृत होती है।[४९]

कलाकार को स्वयं को कोई रहस्यमय व्यक्ति मानकर अत्यंत गूढ़ कला प्रस्तुत करने के बजाय सरलतापूर्वक लोकभोग्य कलाकृति श्रोता या प्रेक्षक के समक्ष रखनी चाहिए। केवल अपनी अनुभूति अभिव्यक्त न करते हुए यदि वह रसिकजनों के भाव-जगत का ख्याल करें, तो कृति अधिक लोकप्रिय हो सकती है। कलाकार स्वयं को जनता का प्रवक्ता माने, वह सराहनीय है। उल्लेखनीय है, कि अगली पीढ़ी की अपेक्षा बाद की पीढ़ी के कलाकारों में श्रोता-प्रेक्षक को सहकर्मी मानने का अभिगम अधिक नज़र आता है।

मनुष्य होने के नाते कलाकार ससीम - मर्यादित - जीव है। उसकी कला-क्षमता प्रतिभा के उपरांत उसके वातावरण, प्रशिक्षण, इत्यादि पर भी अवलंबित है।

उच्चतर समाज-रचना में कलाकार का योगदान अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। वह सौन्दर्य के माध्यम से मानव-समाज को परमानंद की प्राप्ति करवाता है, कृतकृत्यता का एहसास देता है। वह भौतिक समृद्धि से विरक्त, सांसारिक मोह-माया से विरक्त रहते हुए कला सृजन के दायित्त्व का निर्वाह करता है। कला कलाकार के जीवन का प्रतिबिंब तथा आविष्कार है।

अभिनवगुप्त ने कलात्मक व्यक्तित्त्व के अंतर्गत आने वाले गुण इस प्रकार बताये हैं : १. रसिकत्त्व, २. सहृदयत्त्व, ३. प्रतिभा, ४. वासना, संस्कार ५. भावना, चवर्णा, ६. उपयुक्तता, ७. तादात्म्य।[५०]

१.१.२ कला के प्रकार :-

- **सामान्य :**

वैदिक युग में कलाओं का कोई वर्गीकरण नहीं किया गया था, उनके प्रकार तय नहीं किये गए थे। उस युग में प्रत्येक कला उपयोगी होती थी तथा उपयोगिता के कारण ही उसकी सराहना होती थी। कलाओं का सर्वप्रथम विभाजन वभ्रु-पुत्र पांचाल ने किया था, जो 'मूल' तथा 'अन्तर' कला के रूप में था, पर वो परवर्ती काल में स्वीकार्य नहीं हुआ।[५१]

कवि कालिदास के 'रघुवंश' के श्लोक

"गृहिणी सचिवः सखी मिथः प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ।
करुणाविमुखेन मृत्युना हरता त्वां वद किं न मे हृतम्।।"

में किये गए शब्द प्रयोग 'ललिते कलाविधौ' से विदीत होता है, कि 'ललित' 'कला' का विशेषण है। परंतु प्राचीन संस्कृत साहित्य में ललित तथा अन्य (सामान्य) कला - ऐसे भेद का कोई वर्णन प्राप्य नहीं है, अतः सभी कलाओं के लिए 'ललित' संज्ञा उपयुक्त होने का अनुमान है।

पाश्चात्य विद्वान एरिस्टोटल के समय से 'ललित कला' तथा 'उपयोगी कला' ऐसे भेद प्रचलित हुए। उसके पश्चात् कालक्रम से भारत में भी इन प्रकारों में कला को वर्गीकृत करने का प्रयास दृश्यमान हुआ है।[५२]

जिन कलाओं का प्रथम प्रयोजन उपयोगिता का हो तथा सौन्दर्य का प्रयोजन गौण हो, उन्हें 'उपयोगी कला' नाम दिया गया। उन्हें 'ललितेतर कला', 'सामान्य कला', 'यांत्रिक कला', 'कारू कला', इत्यादि भी कहा जाता है। सिलाई-बुनाई, भरत-गुंफन, लोहारगिरी, बढ़ईगिरी, कुम्हारगिरी, सुनारगिरी, रात्नपरीक्षा, अश्वविद्या, कृषि, रसोई, इत्यादि इस श्रेणी के अंतर्गत आते हैं।

जिन कलाओं का प्रथम प्रयोजन आत्माभिव्यक्ति तथा सौन्दर्य-निर्माण हो तथा उपयोगिता का प्रयोजन गौण हो, उन्हें 'ललित कला' नाम दिया गया। उन्हें 'सौन्दर्यप्रधान कला', 'चारू कला', या व्यवहार में सिर्फ़ 'कला' भी कहा जाता है। स्थापत्य, शिल्प, चित्र, साहित्य (नाट्य) तथा संगीत इस श्रेणी के अंतर्गत आते हैं।

'अष्टाध्यायी' में प्रयुक्त शब्द 'कारू शिल्पी' तथा 'चारू शिल्पी' उपरोक्त प्रकारों से संबंधित विदीत होते हैं।[५३]

इन दो मुख्य प्रकारों के उपरांत भिन्न-भिन्न विद्वानों द्वारा कला को विभिन्न वर्गों में विभाजित - वर्गीकृत - करने का प्रयास किया गया।

जैसे, भरतमुनि ने कलाओं को 'मुख्य' एवं 'गौण' वर्ग में विभाजित किया। अरस्तु ने कला को मुख्य तीन वर्गों में रखा : १. आचरण विषयक कला, २. ललित कला तथा ३. उदार कला। हेगल ने कला को तीन वर्गों में वर्गीकृत किया : १. प्रतीक-वादी कला, २. शास्त्रीय कला तथा ३. रूमानी कला। कला को 'रूपात्मक' तथा 'गत्यात्मक' श्रेणी में भी वर्गीकृत किया जा सकता है।[५४]

कला के अन्य कई वर्ग संभव है, जैसे कि, व्यवसायी कला तथा बिनव्यवसायी कला, प्रत्यक्ष कला तथा परोक्ष कला, व्यक्तिगत कला तथा सामूहिक कला, चक्षुग्राह्य कला तथा कर्णग्राह्य कला, इत्यादि।

परंतु मुख्यतः कला को दो ही वर्गों में वर्गीकृत करने को मान्यता प्राप्त हुई है : १. चारू (ललित) कला तथा २. कारू (ललितेतर) कला।

- **कारू कला :**

कारू (ललितेतर) कला व्यवहारिक जीवन-निर्वाह की स्थूल आवश्यकताओं में उपयोगी होती है। भावाभिव्यक्ति या सौन्दर्यनिर्माण से उसका संबंध अनिवार्य नहीं है।

इन कलाओं में रचना-प्रक्रिया इन दो चरणों में होती है : प्रथम चरण है योजना बनाना तथा द्वितीय चरण है उस योजना को निश्चित सामग्री पर प्रस्थापित करना।[५५]

कारू कलाएँ भौतिक सुख के साधनों को उपलब्ध कराके मानव को सुख प्रदान कराती है। इनमें मानव चित्त को प्रसन्नता प्रदान करने की क्षमता है, पर उनकी उपयोगिता के जरिये। कारू कला में कल्पना तत्त्व को स्थान है, परंतु क्रियात्मक कौशल्य एवं उपलब्धि मुख्य है। क्योंकि इन कलाओं का लक्ष्य स्थूल आवश्यकताओं की पूर्ति है, उनमें आध्यात्मिक आनंद प्रदान करने वाली कलात्मक ऊँचाई की गुंजाईश बहुत ही कम है, नहींवत् है।

इन कलाओं में दक्षता के लिए बार-बार अभ्यास करना पड़ता है। कारू कलाओं में विषय का चुनाव प्रायः कलाकार नहीं करता, वह उपभोक्ता द्वारा चुने गए विषय को कार्यान्वित करता है। इन कलाओं में चारू कलाओं की तरह उदात्त गुण आवश्यक नहीं है, उपयोगिता ही उनका लक्ष्य - ध्येय - है।

इन कलाओं का महत्त्व कम आंकना कतई उचित नहीं है, क्योंकि ये मनुष्य की प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति करती हैं। दैनिक जीवन में ज़रूरी तमाम चीज़-वस्तुओं की उपलब्धि कारू कला के जरिये होती है। इनके बिना मानव-सभ्यता संभव नहीं।

- **चारू कला :**

चारू (ललित) कला का उद्देश्य मुख्यतः आत्माभिव्यक्ति तथा आनंद-प्राप्ति है। स्थूल उपयोगिता से उसका संबंध अनिवार्य नहीं है। चारू कला मनुष्य में स्वाभाविक रूप से निहित सौन्दर्य-प्रेम को पोषित कर, सौन्दर्यबोध करवाती है तथा उस माध्यम से आनंदानुभव प्रदान करती हैं। ये कलाएँ मानव के सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक उत्थान के मार्ग प्रशस्त करती हैं।

प्राणी मात्र प्राथमिक आवश्यकता की पूर्ति के बाद जो शारीरिक-मानसिक शक्ति बच जाती है, उससे स्वेच्छा से कुछ प्रवृत्ति करने का गुण रखते है, जिसे 'क्रीड़ा' कहा जाता है। इन प्रवृत्तिओं को जीवन-व्यवहार से प्रत्यक्ष संबंध नहीं है, पर वे स्वान्तः सुखाय, साध्यरूप क्रिया है। इस सहज क्रीड़ा-वृत्ति का आविष्कार मनुष्य में उत्कृष्ट रुप से कला-व्यापार स्वरुप से हुआ है। चारू कला का मुख्य कारण साधन के रूप में उपयोग नहीं है, उसे करने में आनंद-प्राप्ति है, वह स्वयं ही साध्य है। वास्तविकता की शुष्कता तथा कठोरता से मुक्ति पाकर काल्पनिक मगर इच्छित परिवेश की प्राप्ति की झंखना भी चारू कला के अस्तित्त्व का एक कारण है। इसके जरिये मनुष्य स्वयं को परिस्थिति के गुलाम के स्थान पर उसका स्वामी मेहसूस करता है। मुक्त स्वातंत्र्य के साथ शिस्त - दोनों मानवीय गुणों का चारू कला में उत्कृष्ट निरूपण हुआ है। इस कला के जरिये उन्हें आकार मिला है। उल्लेखनीय है, कि चारू कला के लिए आवश्यक उर्वरित शक्ति-संचय के लिए स्थिरता, संपन्नता, आदि आवश्यक है। वे चारू कला के आलंबन नहीं, मगर उद्दीपक तो अवश्य हैं।[५६]

संस्कृत साहित्य में पाँच (५) चारू कलाओं का उल्लेख है : स्थापत्य (वास्तु) कला, शिल्प (मूर्ति) कला, चित्र कला, साहित्य (काव्य) कला तथा संगीत कला। नाट्य कला को साहित्य कला का ही उत्कृष्ट रूप माना गया है, पर कुछ विद्वानों द्वारा नाट्य कला को भी स्वतंत्र चारू कला बताया गया है। नर्तन कला को वैसे तो प्राचीन काल

से संगीत कला के अंतर्गत माना गया है, पर कुछ विद्वानों ने उसे भी स्वतंत्र कला माना है।

चारू कलाओं में कुछ सामान्य तत्त्व - नियम पाए जाते हैं। इनमें विषयवस्तु, केंद्रबिंदु, कार्य, संगठन, संतुलन, शैली, क्रम, व्यवस्था, अनुपात, आकार, सादृश्य (विशेषतः चित्र एवं शिल्प में), लय (विशेषतः साहित्य एवं संगीत में), वैविध्य, नाविन्य, वैचित्र्य, अलंकार, जीवंतता, शुद्धता, पूर्णता, दिव्यता एवं अत्याधिक महत्त्वपूर्ण सौन्दर्य - इत्यादि समाविष्ट हैं।[५७]

चारू कला संवेदना से संलग्न विधा है। व्यवहार में संवेदना का स्थान ज्ञान-व्यापार या क्रिया-व्यापार के साधन के रूप में है, मगर चारू कला में संवेदना का महत्त्व संवेदना के, उसके मूल रूप में ही है। उल्लेखनीय है, कि कला में सिर्फ़ सुखद संवेदन को ही स्थान नहीं है, वह दु:खद भी हो सकते हैं। पर उन्हें व्यक्त करके एक परितृप्ति का एहसास प्राप्त होता है, वह सुखद है।

चारू कला में संवेदन का अर्थ भी एक पहलू है। विभिन्न चारू कलाओं में संवेदन तथा अर्थ के प्रमाण में तफ़ावत पाया जाता है। जैसे, संगीत में संवेदन अत्याधिक प्रमाण में, जबकि काव्य में अर्थ अत्याधिक प्रमाण में अनुभव होता है।[५८]

वस्तुतः चारू कला अभिव्यक्त्यात्मक है। विभिन्न संवेदनों की अनुभूति को इस माध्यम से अभिव्यक्त किया जाता है। सफल अभिव्यक्ति ही कला हो सकती है तथा सफल अभिव्यक्ति के लिए सफल अनुभूति अनिवार्य है। कला के दो अंग विषय-वस्तु तथा विषय-स्वरुप पैकी वस्तु अनुभूति से तथा स्वरुप अभिव्यक्ति से संलग्न है।

चारू कला में भौतिक (वास्तविक) सत्य का अनुकरण है, साथ में उसमें काल्पनिक सत्य भी अभिव्यक्त होता है।

अनुभूति की अभिव्यक्ति सजीव-मात्र की आदत रही है, जो मनुष्य में उत्कृष्ट स्वरुप में विकसित हुई। और अभिव्यक्ति की उत्कृष्टता चारू कला में विद्यमान है। उत्क्रांति - इतिहास की ओर दृष्टि करने पर विदीत होता है, कि संवेदनों की अनुभूति को अभिव्यक्त करने के ढंग परिष्कृत होते-होते कालक्रम से कलाओं का निर्माण हुआ। अभिव्यक्ति कला का वह तत्त्व है, जो रसिकजनों को कलाकार से संजोए रखता है। अनुभूति को अभिव्यक्त करने से परितृप्ति होती है, जो चारू कला का प्रेरकबल है।

चारू कला को 'ललित कला' भी कहा जाता है। 'ललितस्वराज' ग्रंथ के वर्णन अनुसार भगवान शिव की लीला सखी शक्तिरूपा महामाया 'ललिता' नाम से जानी जाती है। ललिता के लालित्य से ललित कलाओं का उद्भव हुआ।[५९]

'लालित्य' यानि लावण्य, माधुर्य, सौन्दर्य। इस प्रकार 'ललित कला' शब्द से ही स्पष्ट है, कि इन कलाओं में सौन्दर्य तत्त्व निहित है। सौन्दर्य वह तत्त्व है, जो उपयोगी (कारू) कला से ललित (चारू) कला को अलग करता है।

डॉ. गणपति चन्द्र गुप्त के अनुसार (ललित) कला का अपने प्रति आकर्षित करने वाला गुण ही सौन्दर्य है। डॉ. रामविलास शर्मा के अनुसार ललित कलाओं का आनंददायक गुण सौन्दर्य है।[६०]

'चारू' अर्थात् सुन्दर। चारू कला यानि ललित कला ऐसी प्रवृत्ति है, जो सौन्दर्य-निर्माण करती है। कला-कृति की सफलता उसके सौन्दर्य पर निर्भर है। यहाँ 'सौन्दर्य' शब्द से केवल स्थूल सुन्दरता का तात्पर्य नहीं है, बल्कि सूक्ष्म लावण्य का भी है। जो सौन्दर्य अभिव्यक्त करें, वह 'चारू कला' (तथा जो वासन के बिना आनंद प्रदान करे, वह 'सौन्दर्य')। अभिव्यक्ति को 'कला' का स्थान प्राप्त करने के लिए सौन्दर्यपूर्ण होना अनिवार्यतः आवश्यक है।

हेगल तथा अरस्तु जैसे विद्वानों के मत का विश्लेषण करने पर विदीत होता है, कि अत्याधिक विचारशील होने के कारण मनुष्य को प्राकृतिक सौन्दर्य में कुछ

अपूर्णता का आभास होता है, जिसकी पूर्ति अपनी कल्पनाशीलता से ललित कला के माध्यम से करना उसका प्रयास रहता है।

सौन्दर्य आत्मा की सरलतम अनुभूति है। सुन्दर वस्तु के सौन्दर्य गुण से उदित आत्मिक भाव को सौन्दर्यानुभूति कहते हैं। ये अनुभूति के जरिये ललित कला मनुष्य को कोमल, पवित्र, दयालु और परिष्कृत बनाती है।

क्योंकि सौन्दर्य में तार्किकता का महत्त्व कम है, कला में भी (विज्ञान की तरह) तर्क को अधिक स्थान नहीं मिल सका, उसमें सौन्दर्य को ही प्राधान्य है। (विशेषतः भारतीय) ललित कला में संवेदन तथा सौन्दर्य उत्कृष्ट सायुज्य से, परस्पर पूरक होकर अभिव्यक्त होते हैं।

ऐसा कहना अनुचित नहीं है, कि ललित कला के लिए उसकी सौन्दर्यपूर्णता सबसे पहली शर्त है, वह आकर्षक, रुचिकर होनी ही चाहिए।

भारतीय संस्कृति में सत्यम्, शिवम् तथा सुन्दरम् की साधना एवं सिद्धि को जीवन का लक्ष्य माना गया है। भारतीय तत्त्वज्ञान के अनुसार इन तीनों में से कोई भी एक की साधना से अन्य दो की प्राप्ति होती है और परमानंद की अनुभूति होती है। तीनों की साधना के मार्ग भिन्न है। विज्ञान, धर्म तथा कला अनुक्रम से सत्य, शिव तथा सुन्दर की साधना के मार्ग है। (ललित) कला में स्वाभाविक रूप से सुन्दर को प्राधान्य दिया गया है, सत्य तथा शिव उसके सहायक के रूप में है।

कान्ट का कथन है, कि प्रकृति में कला दृश्यमान हो, तथा कला में प्रकृति, वही सौन्दर्य है।[६१] ललित कलाओं ने प्रकृति से काफ़ी कुछ लिया है। संवेदन मानव-मन की उत्पत्ति है, पर उन्हें अभिव्यक्त करने के माध्यम तथा तरीके उसने प्रकृति से सीखे हैं। वास्तव में कला प्रकृति की अनुकृति तथा आत्मा की अभिव्यक्ति है।

भारत में चारू कला का धर्म से गहरा संबंध रहा है। प्राचीन भारतीय संस्कृति में चारू कलाओं का प्रयोग मंदिरों में नियमित रूप से किया जाता था। भगवान को सर्वोच्च कलाकार माना जाता था तथा उनके चरणों में सेवा के रूप में कला-प्रस्तुति की जाती थी।

क्योंकि धर्म ने कला का उपयोग किया, भारतीय कलाओं में धार्मिक तत्त्व ने अपने आप स्थान ले लिया। धार्मिक विधि-विधानों में कला किसी न किसी रूप में उपस्थित रही तथा कला में भी धार्मिक परंपरा, कथानकों का अत्याधिक उपयोग हुआ। प्राचीन भारत में धर्म तथा कला परस्परावलंबी रहे, जो कुछ हद तक वर्तमान समय में भी प्रस्तुत है।

प्राचीन काल में धार्मिक मति के अनुसार कला को सराहा या नकारा जाता था। धर्म अनुमति दे, उसे 'अच्छी कला' तथा न दे, उसे 'बूरी कला' माना जाता था।[६२]

(विशेषतः भारतीय) चारू कलाएँ परब्रह्म का साक्षात्कार करवाने सक्षम है। उसका स्वरुप आध्यात्मिक परिप्रेक्ष्य का है। विदीत है, कि इस आध्यात्मिकता के कारण ही कला को परम तत्त्व - इश्वर - उपासना का माध्यम बनाकर धर्म में स्थान दिया गया होगा।

रंजकता तथा पावित्र्य को एक साथ संजोए रखने में समर्थ इस विधा का स्थान प्राचीन भारत में अत्यंत महत्त्वपूर्ण रहा। उसकी सिद्धि महत्वपूर्ण, आवश्यक मानी गई।

वात्स्यायन मुनि ने 'कामशास्त्र' में अच्छे नागरिक के लिए आवश्यक ६४ कलाएँ बताई हैं, जिनमें ललित कलाएँ भी शामिल हैं। राजा-महाराजा तथा श्रीमंतों की संतानों को ललित कलाओं का अभ्यास करवाया जाता था। सामान्य जनता में भी इन कलाओं के ज्ञानी स्त्री-पुरुषों की सराहना होती थी। इन कलाओं में पारंगत वेश्याओं

को ‘गणिका’ का पद दिया जाता था, जो वेश्या से उच्च होता था। उनकी कला के कारण उन्हें सम्मानीय स्थान प्राप्त होता था।[६३]

भारतीय समाज में ललित कलाएँ मानव-जीवन का हिस्सा हमेशा से रही है, कुछ चढ़ाव-उतार के बावजूद भी उसने समाज में अपना अस्तित्त्व कायम किया है।

ललित कला को भिन्न-भिन्न विद्वानों द्वारा लौकिक तथा अलौकिक - दोनों बताया गया है, वास्तव में दोनों सच है। मानवीय संवेदना-जन्य होने से वह लौकिक है; मगर उससे परम तत्त्व की आराधना एवं प्राप्ति हो सकती है, अतः वह अलौकिक भी है। उसकी उत्पत्ति लौकिकता से होकर भी ध्येय उसे अलौकिकता की ओर ले जाता है। इस प्रकार वे लौकिक होकर भी अलौकिक हैं।

चारू कला की उत्पत्ति अभिव्यक्ति हेतु हुई, परंतु कालक्रम से उसके कारण में भी परिवर्तन आते गए। सौन्दर्यपूर्ण अभिव्यक्ति से जो आनंद प्राप्त होता था, वह कला का मुख्य उद्देश्य बना रहा। चारू कला के जरिये स्वयं को तथा प्रेक्षकों-श्रोताओं को आनंद की प्राप्ति हो, वही कलाकार का लक्ष्य बनने लगा। समाज में एक बड़ा परिवर्तन आया - प्राचीन काल में व्यक्त हुई धर्म-भावना के प्रमाण से कला की सफ़लता तय की जाती थी, जो आधुनिक काल में उसकी आनंद प्रदान करने की क्षमता से तय होने लगी।[६४]

भारतीय कलाओं का अंतिम लक्ष्य परम तत्त्व की उपासना के जरिये परमानंद की प्राप्ति है, परंतु इनमें आत्मा के साथ इन्द्रियजन्य शारीरिक सुख की अवहेलना नहीं की गई है। चारू कला में भौतिक, सांसारिक सुख को भी लक्ष्य में रखा गया है।

चारू कला अनुभवजन्य विभावना है। चाहे प्रकृति को देखकर उसका अनुकरण हो, या निजी अनुभूति, दोनों कलाकार के अनुभव ही है। संवेदना तथा बुद्धि के श्रेष्ठ मेल से एक शांति, सुकून, तन्मयता का एहसास होता है, वही कलागुणानुभव है। यदि वह कला सर्जन में मूर्तिमंत हुआ है, तो सहृदयी श्रोता या प्रेक्षक तक पहुँच सकता है।

कलात्मक अनुभव उत्पन्न करने वाली यह क्रिया चेतना की क्रिया है। सामान्यतः कलाकृति के प्राथमिक परिचय से रसिक उससे अनुरूप हो, ऐसे निजी अनुभवों से अनुसंधान साधना शुरू करता है। इससे उसके कला आस्वादन पर दो विपरीत प्रभाव पड़ सकते है। यदि उसका अनुभव कलाकार के अनुभव से साम्य रखता हो, तो वह स्वाभाविक रूप से कला को अनुमोदन देगा। परंतु यदि उसका अनुभव कलाकार के अनुभव से भिन्न हो, तो कला को समर्थन देने में उसे कठिनाई होगी। इस प्रकार कलाकार तथा रसिक के पूर्व अनुभवों की साम्यता तथा भिन्नता कला आस्वादन पर सकारात्मक तथा नकारात्मक असर बनाते है।

कुछ विद्वानों ने कला का मूल पीड़ा को माना है। पर उन्होंने स्पष्ट किया है, कि पीड़ा जनित वेदना जब भाव लोक में क्रियाशील है, तभी तक वह वेदना है। जैसे ही कला के माध्यम से उसकी अभिव्यक्ति हो जाती है, वह सांत्वना के रूप में परिवर्तित हो जाती है।[६५]

मानवीय भावों के आदान-प्रदान के मुख्य दो माध्यम समाज में प्रचलित है : विचारों के लिए भाषा तथा संवेदन के लिए भाषा के उपरांत कला। व्यापक अर्थ में कला हरेक प्रकार की संवेदना का वहन करने सक्षम है। चारू कला सिर्फ़ मनोरंजन नहीं है, वह मानवजीवन का ऐसा अंग है, जो उत्कृष्ट मानवीय भावों, संदेश, परिपाटी को मूर्तिमंत करके उनका प्रचार-प्रसार करने सक्षम है। ख्रिस्ती धर्म में कला को मनुष्यों में बंधुभाव की एकता स्थापित करने कटिबद्ध माना गया है।[६६]

कला-रचना मौलिक होती है; पर यहाँ 'मौलिकता' का तात्पर्य अन्य कला-रचनाओं से असमानता में नहीं है। अन्य कृतिओं से साम्य हो सकता है; मूल संवेदन, सोच, विचार मौलिक होना चाहिए।

चारू कला को कल्पनात्मक व्यापार माना गया है। उसमें सौन्दर्य-निर्माण हेतु कल्पनाशीलता का उपयोग बिना किसी सीमा के किया जाता है। उसमें वास्तविकता

को कल्पना की सहायता से अधिक सुन्दर बनाकर प्रस्तुत किया जाता है, आवश्यकतानुसार वास्तविकता को घटाकर कल्पना को बढ़ाया जा सकता है। उल्लेखनीय है, कि कलाकृति में हमेशा अभिव्यक्ति अत्याधिक स्पष्ट अर्थघटन संभव हो, ऐसी नहीं होती। अतः रसिक को भी आस्वादन के लिए कल्पनाशील होना पड़ता है। क्योंकि कला संवेदनात्मक एवं कल्पनात्मक विधा है, जो प्रत्येक मनुष्य के लिए भिन्न होती हैं, उसमें अर्थघटन रसिक पर छोड़ देना उचित होता है। वह यदि अपनी संवेदना या कल्पना से कृति का आस्वादन करे, तो उसे वह अधिक असरकारक लगती है और प्रायः यही होता है। सूक्ष्म स्तर पर देखा जाए, तो कृति का अर्थघटन प्रत्येक मनुष्य अलग करता है, प्रत्येक पर कृति का भिन्न-भिन्न प्रभाव पड़ता है।

कला सत्य के प्रति उदासीन नहीं है, सारतः वह सत्य की खोज ही है; पर यहाँ सत्य का तात्पर्य वैयक्तिक तथ्य है। (बाहरी वास्तविकताओं का कला में अधिक महत्त्व नहीं है।) चारू कला के परिप्रेक्ष्य में सत्य यानि अनुभूति की प्रामाणिक अभिव्यक्ति।[६७]

कला का सैद्धांतिक पक्ष अवश्य है, परंतु व्यवहार में उसके क्रियात्मक पक्ष की उपयुक्तता मुख्य है। कला मुख्यतः 'क्रिया' से संलग्न विधा है।

चारू कला संवेदन पर आधारित विधा है, जिसमें बुद्धि तत्त्व की आवश्यकता अधिक नहीं है। तात्पर्य यह नहीं है, कि उसमें बुद्धि का उपयोग बिलकुल भी नहीं है। कला का तकनिकी पक्ष बुद्धि पर आधारित है और उच्च विषयवस्तु की उत्कृष्ट प्रस्तुति के लिए अभिव्यक्ति की तकनीक उचित होना अनिवार्य भी है। परंतु संवेदन पर हावी हो जाए, उतने तर्क-वितर्क करने वाले बुद्धि तत्त्व की आवश्यकता इसमें नहीं है।

कला नीति के प्रचार-प्रसार के लिए उत्कृष्ट माध्यम सिद्ध हो सकती है। ग्रीक समय में कला को जीवनपोषक तथा मूल्ययुक्त माना जाता था। परंतु वह उसका उपयोग मानना उचित है, उसका लक्ष्य नहीं। सौन्दर्य-निर्माण की अपेक्षा कला में नैतिकता का स्थान निम्न है।

कला के दो पहलू है : विषय-वस्तु तथा रूप। विषय-वस्तु कला की रूह है, रूप शरीर। रूप विषय-वस्तु को आकारित करता है, उसे कलाकार से रसिक तक पहुँचाता है। एक ही विषय-वस्तु के रूप भिन्न-भिन्न हो सकते हैं। रूप, अर्थात् स्वरुप ऐसा पहलू है, जो प्रत्येक कला में भिन्न होता है। इन्हें 'आशय' तथा 'माध्यम' भी कहा जा सकता है।

हरेक क्षेत्र की तरह कला के लिए भी एक विशिष्ट आंतरिक शक्ति, क्षमता की आवश्यकता होती है, जिसे 'प्रतिभा' कहा जाता है। प्रतिभा नैसर्गिक शक्ति है, जन्मजात है। शिक्षा या तालीम से प्रतिभा परिष्कृत हो सकती है, पर उसका अस्तित्त्व प्रकृतिदत्त, ईश्वरदत्त है।

चारू कला के कार्य के संबंध में कई मत पाए जाते हैं। होरेस से कान्ट तक के सौन्दर्यशास्त्रीओं, विवेचकों ने आनंद-प्राप्ति के साथ नैतिक शिक्षा को भी आग्रहपूर्वक कला का कार्य माना। पर उनके बाद कला के स्वायत्तता-सिद्धांत को अत्याधिक मान्यता प्राप्त हुई। आत्माविष्कार तथा आनंद-प्राप्ति को ही मुख्यतः कला का कार्य माना जाने लगा। प्लेखानोव के अनुसार कलाकृति चिंतनशीलता का आह्वान करती है, (विवेकबुद्धि का नहीं)। कला द्वारा दिग्दर्शित वस्तु मानव-जीवन के मूल्यों इत्यादि से संलग्न हो भी सकती है, पर उसके लिए सभान प्रयास नहीं किया जाता। लेनिन का मत है, कि सामाजिक क्रांति में कला का योगदान होना चाहिए। मार्क्सवादीओं के मुताबिक कला को सामाजिक वास्तविकता का चित्रण करना चाहिए तथा नवीन समाज-रचना में उसका योगदान होना चाहिए।

क्योंकि कला लोकभोग्य है, आम जनता के लिए काफ़ी आकर्षक है, उससे धर्म तथा नीति का संदेश-उपदेश देना असरकारक है। इस तरह उसका उपयोग किया जाए, वह अनुचित भी नहीं है। पर उसका मुख्य उद्देश्य सौन्दर्यानंद है। सौन्दर्य तत्त्व

की आराधना में अन्य हेतु यदि विक्षेप डाले, तो उन्हें टालना चाहिए। वर्तमान समय में मुख्यतः यह विचारधारा प्रचलित है।

चारू कला में व्यवहारू उपयोगिता के प्रति लक्ष्य नहीं दिया जाता, उसका अर्थ यह नहीं है, कि व्यवहारु दृष्टि से वह निरुपयोगी होनी चाहिए। पर उसके उपयोग तथा उसके सौन्दर्यमूल्य के मध्य कोई संबंध नहीं है, परस्परावलंबन नहीं है। विश्व चैतन्य का इन्द्रियगोचर माध्यम में आविष्कार कला का कार्य है, वह व्यवहार में प्रत्यक्ष रूप से उपयोगी हो, या न हो।[६८]

विशाल फलक पर देखा जाए, तो चारू कलाएँ सौन्दर्य को मूर्त रूप प्रदान करके ऐन्द्रिय, मानसिक, भावनात्मक तथा आध्यात्मिक सुख प्रदान करती हैं। वे राष्ट्र की सांस्कृतिक धरोहर हैं। समय-समय पर अन्य राष्ट्रों की कला-संस्कृति से प्रभावित होकर समृद्ध बनी हैं, बन रही हैं।

चारू कला में निहित आकर्षक तत्त्व को कायम रखने के लिए संवेदना जितना ही महत्त्व प्रस्तुति का है। सिर्फ़ संवेदना आकर्षक कला निर्माण नहीं कर सकती। नवीन दृष्टिकोण के साथ नवीन पद्धति भी कला की आकर्षकता के लिए आवश्यक है, जो कला के लिए अनिवार्य है। चारू कला में 'उपमा' का स्थान महत्त्वपूर्ण है, जो वास्तव का वैचित्र्यदर्शी रूप है।

डॉ. नगेन्द्र के अनुसार सौन्दर्य का मूर्त रूप कलाकृति है। उनका कथन है, कि कलाकृति अनुभव गम्य होने पर भी अनुभूति मात्र नहीं है और आस्वादन का विषय होने पर भी (साधारण) मूर्त वस्तु नहीं है। वास्तव में कलाकार की अनुभूति कृति के रूप में मूर्तित होकर रसिक की अनुभूति से एकरूप होकर उसे प्रकाशित करती है। कलाकृति की रचना-प्रक्रिया का आदि व अंत अनुभूति से ही है। प्रत्येक कलाकृति में रूप - आकार - संरचना का सिद्धांत होता है, पर उन पर अत्याधिक बल नहीं देना चाहिए। कलाकृति की जीवंतता सर्वाधिक आवश्यक है। कलाकृति का मूल्यांकन

व्यक्ति के रूचि, ज्ञान, प्रवृत्ति, निष्पक्षता, आकलन क्षमता, इत्यादि योग्यता पर आधारित होता है। कला का मूल्यांकन - उसकी समीक्षा करने वाले व्यक्तिओं के वर्ग इस प्रकार हो सकते हैं : १) साधारण (अज्ञानी) रसिक, २) सुशिक्षित, ज्ञानी (कला विद्यार्थी) रसिक तथा ३) स्वयं कलाकार हो, ऐसे रसिक।[६९]

कलाकृति मूल भावना के साथ एकरूप हो, उससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण यह है, कि कलाकृति से उत्पन्न भावना मूल भावना से एकरूप हो। कलाकृति की रचना तीन प्रकार से संभव है : १) अवलोकित वस्तु का संपूर्ण अनुकरण, २) अवलोकित वस्तु का आंशिक अनुकरण, आंशिक निजी कल्पना तथा ३) संपूर्ण कल्पना।[७०]

कलाकृति को मानवसापेक्ष माना गया है, क्योंकि वह मानव के लिए, मानव द्वारा निर्मित है। (वैसे मानवरचित हरेक विधा मानवसापेक्ष ही कहलाएगी।) मूड़ीवाद के अनुसार कलाकृति का रहस्य समझने के लिए उसके मूल में रही अर्थव्यवस्था को समझना चाहिए, क्योंकि अर्थव्यवस्था से बने वर्गों की जीवननिष्ठा कलाकृति में प्रतिबिंबित होती है।

कान्ट जैसे विद्वानों के अनुसार प्रत्येक कलाकृति अनन्यसाधारण है। उनका वर्गीकरण संभव नहीं। उनकी योग्यता के नियम बनाना भी उचित नहीं।[७१]

कोई भी कलाकृति का निर्माण दो चरणों में होता है। प्रथम है - योजना बनाना - रचना करना तथा द्वितीय है - उस योजना को निश्चित सामग्री पर स्थापित करना - गढ़ना। प्रथम चरण मानसिक प्रक्रिया है, जबकि द्वितीय भौतिक।

भारतीय दर्शन के मुताबिक ललित कला को ईश्वरीय तत्त्व से संलग्न माना गया है। 'नाद ब्रह्म', 'शब्द ब्रह्म', इत्यादि शब्द-प्रयोग इसके प्रमाण हैं।

श्री अरविन्द ने ललित कला के विषय में कहा है, कि यदि सिर्फ़ नक़ल की जाए, तो सर्जन निष्प्राण ही रहेगा। इन्द्रियातीत सत्त्व से भरपूर ही सच्ची कला हो सकती

है।[७२] उनके अनुसार भारतीय ललित कला का भावार्थ पाने के लिए सौन्दर्यबोध के उपरांत आध्यात्मिक संस्कार एवं आंतर दर्शन आवश्यक है।[७३]

श्री माताजी के अनुसार ललित कला दिव्य सौन्दर्य को उजागर करती है। उनके अनुसार कला का हार्द इश्वर के विश्वरूप आविर्भाव में निहित सौन्दर्यतत्त्व ही है। उनका मत है, कि कला कलाकार के इश्वर के साथ के संबंध को अभिव्यक्त करने का माध्यम - साधन है। (उन्होंने कला को साधन माना है, साध्य नहीं।)[७४] माताजी ने सुसंस्कृत जीवन के लिए कला को सराहनीय माना है। कला को हस्त-कौशल्य या बुद्धि-चातुर्य न मानते हुए उन्होंने उसे श्रेष्ठ साक्षात्कार बताया है। उन्होंने 'कला के लिए कला' के स्थान पर वैयक्तिक विकास के लिए कला के प्रयोग को उचित समजा है।[७५]

१.१.३ : ललित कला के प्रकार :-

- **सामान्य :**

ललित कला के अंतर्गत स्थापत्य (वास्तु), शिल्प (मूर्ति), चित्र, साहित्य (काव्य) तथा संगीत की गणना की गई है। (कुछ विद्वानों द्वारा नाट्य तथा नर्तन को भी स्वतंत्र ललित कला माना गया है।)

ललित कलाओं के प्रकार, वर्ग, वर्गीकरण को लेकर भिन्न-भिन्न मत पाए जाते हैं।

प्राचीन भारतीय मतानुसार मुख्य ललित कलाएँ तथा उनके अंतर्गत आनेवाली ललित कलाएँ इस प्रकार हैं ;

१) काव्य : गद्य, पद्य।

२) वास्तु : चित्र, शिल्प।

३) संगीत : गायन, वादन, नर्तन।

सभी ललित कलाएँ इन्द्रियग्राह्य ही है, मगर प्राथमिक ग्राह्य माध्यम - इन्द्रिय - पर ध्यान केन्द्रित किया जाए, तो ललित कलाएँ दो प्रकारों में विभाजित होती हैं : कर्णग्राह्य अर्थात् श्राव्य कला तथा चक्षुग्राह्य अर्थात् दृश्य कला। साहित्य की गद्य एवं पद्य तथा संगीत की गायन एवं वादन विधा कर्णग्राह्य हैं। स्थापत्य, शिल्प तथा चित्र चक्षुग्राह्य हैं। साहित्य की नाट्य तथा संगीत की नर्तन विधा कर्णग्राह्य भी हैं और चक्षुग्राह्य भी, जिन्हें 'मिश्रित कला' कहा गया है।

स्थिरता तथा चलायमानता के अनुसार ललित कलाओं के दो प्रकार चल तथा अचल हैं। चल कला में कलाकृति सतत गतिशील है, जबकि अचल कला में कलाकृति उसके निर्माण के बाद स्थिर है। चल कला में निर्माण तथा आस्वादन एक साथ हो

सकते हैं, जबकि अचल कला में पहले निर्माण तथा बाद में आस्वादन संभव है। चल कला के अंतर्गत साहित्य (नाट्य) तथा संगीत (नर्तन) की गणना होती है, जबकि अचल कला के अंतर्गत स्थापत्य, शिल्प तथा चित्र की गणना होती है। चल कलाओं की कृति परिवर्तनशील है, जबकि अचल कलाओं की कृति शाश्वत है।

पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्री हेगल ने ललित कलाओं के तीन वर्ग प्रतीकरूप (Symbolic) कला, प्रमाणित (Classical) कला तथा वैचित्रयुक्त (Romantic) कला बताए हैं। उनके मतानुसार प्रतीकरूप कला निम्न आशय तथा उच्च ऐन्द्रिय माध्यम का, प्रमाणित कला आशय एवं ऐन्द्रिय माध्यम के समान प्रमाण का तथा वैचित्रयुक्त कला उच्च आशय तथा निम्न ऐन्द्रिय माध्यम का परिणाम है। हेगल ने प्रतीकरूप कला को प्राथमिक, प्रमाणित कला को मध्यम तथा वैचित्रयुक्त कला को सर्वोत्कृष्ट स्तरीय बताया है। स्थापत्य को प्रतीकरूप, शिल्प को प्रमाणित तथा चित्र, साहित्य एवं संगीत को वैचित्रयुक्त कला बताया गया है।[७६]

स्थापत्य, शिल्प तथा चित्र का मूर्त रूप होने से उन्हें 'रूपप्रद कला' तथा साहित्य एवं संगीत प्रस्तुत करने की कला होने से उन्हें 'प्रस्तुति कला' भी कहा जाता है।

क्रोचे के मतानुसार कलाकृतिओं का विभिन्न कला-प्रकारों में होने वाला वर्गीकरण सिर्फ़ व्यावहारिक सुविधा के लिए है। तत्त्वतः इनका कोई आधार नहीं है। कलाकृति के दो पहलू आशय तथा ऐन्द्रिय शरीर में से विभिन्न कलाओं में केवल ऐन्द्रिय शरीर (माध्यम) का तफ़ावत है। निश्चित अर्थ तथा संवेदना से संलग्नता में ललित कलाएँ परस्पर भिन्न कक्षाओं में हैं। साहित्य में 'अर्थ' का अवकाश सर्वाधिक तथा संवेदना का निम्न माना गया है, जबकि संगीत में संवेदना का सर्वाधिक एवं अर्थ का निम्न। अर्थ की अधिक मात्रा लौकिकता का तथा संवेदना की अधिक मात्रा अलौकिकता का प्रमाण माना गया है।

भौतिक अस्तित्त्व के प्रमाण को ध्यान में लेते हुए ललित कलाओं की कक्षाओं का क्रम इस प्रकार है : स्थापत्य, शिल्प, चित्र, साहित्य एवं संगीत।[७७]

क्रोचे के अनुसार ललित कलाओं से प्राप्य आनंद दो प्रकार के है : शुद्ध एवं मिश्रित - जो अनुक्रम से मुख्य एवं पेटा (मिश्रित, उप) कलाओं से संलग्न है। इस प्रकार स्थापत्य, शिल्प, चित्र, साहित्य (गद्य-पद्य) तथा संगीत (गायन-वादन) से शुद्ध तथा नाट्य एवं नर्तन से मिश्रित आनंद की प्राप्ति होती है।[७८]

बोझंकिट ने कलाओं की भिन्नता का विवेचन किया है। यह भिन्नता उनके माध्यमों का परिणाम है। प्रत्येक कला के उपयुक्त माध्यम में जो विशिष्ट गुण है, वह अन्य कला के माध्यम में नहीं है।[७९] इसलिए प्रत्येक कला का अभिव्यक्ति का तरीका, स्वभाव, क्षमता परस्पर भिन्न है।

श्री अरविन्द ने उचित कहा है, कि प्रत्येक कला का अपना विशिष्ट प्रभाव है तथा प्रभाव उत्पन्न करने का विशिष्ट तरीका है। वह अपने निजी परिप्रेक्ष्य में अन्य कलाओं से श्रेष्ठ है, श्रेष्ठ होनी चाहिए। उन्होंने कहा है, कि हरेक कला का अपना आकर्षण है, उसकी अन्य कला से तुलना करना उचित नहीं है।

स्थापत्य, शिल्प तथा चित्र जैसी अचल कलाओं की स्थिरता मानवमन की उर्मिओं को शांत करती है, जबकि साहित्य तथा संगीत जैसी चल कलाओं की गतिमयता मानवमन की उर्मिओं को जाग्रत करती है। श्री अरविन्द ने भी इसी बात को समर्थन दिया है।[८०]

- **स्थापत्य :**

स्थापत्य को वास्तु कला भी कहा गया है। उसकी कृतियाँ आंतरिक भावना तथा ज्ञान से सिर्फ़ बाह्य संबंध रखती है, आंतरिक भावना तथा ज्ञान की ओर केवल संकेत मात्र करती हैं; स्वयं उनका शरीर नहीं बनती। इसी कारण स्थापत्य को 'बाह्य कला' माना गया है। यह कला अनंग मूर्त पदार्थों को एकत्रित करके, उन्हें व्यवस्थित रूप में गढ़ती है। स्वाभाविक कुरूपता, अव्यवस्थितता को आकर्षक एवं उपयुक्त स्थान में परिवर्तित करती है।[८१]

मूर्त प्राकृतिक तथा (कालक्रम से) अप्राकृतिक (भी) पदार्थ जैसे कि पत्थर, मिट्टी, लकड़ी, ईंट, रेत, धातुएँ, इत्यादि स्थापत्य कला के माध्यम हैं। आंतरिक ज्ञान तथा प्रेरणा को अभिव्यक्त करने के लिए इन माध्यमों का सुनियोजन करके कृति का निर्माण किया जाता है।

विद्वानों का कथन है, कि प्रथम काष्ठयुग तथा तत्पश्चात पाषाण युग रहा, जिसके अवशेष अभी भी विद्यमान हैं। ऋग्वेद, अथर्ववेद, सूत्रों, पुराणों, नाट्यशास्त्र, रामायण, महाभारत, इत्यादि के उपरांत भास, शूद्रक, कालिदास, जैसे प्राचीन विद्वानों की कृतिओं में स्थापत्य कला का सुन्दर, भव्य वर्णन किया गया है। 'अपराजित पृच्छा', 'समरांगण सूत्रधार', 'शिल्परत्न', 'मानसार', 'शुक्रनीतिसार', इत्यादि ग्रंथों में प्रासाद के तीन प्रकार बताये गए थे : १) नागर, २) वेसर तथा ३) द्राविड़।[८२]

पाश्चात्य विद्वान ग्रोपीअस तथा मोहली नाज ने स्थापत्य को मुख्य कला के रूप में स्थापित करने का प्रयास किया है।[८३]

स्थापत्य कला सिर्फ़ उपयोगी भवनों का निर्माण नहीं करती, बल्कि मंदिर, मस्जिद, स्मारक, विजयस्तंभ, पिरामिड, इत्यादि कृतियाँ भी उसमें समाविष्ट होने से उसे ललित कला माना गया है।

स्थापत्य कला में भावना की अपेक्षा विचार अधिक प्रमाण में निहित हैं। विशालता, भव्यता से निर्मित सौन्दर्य उसका आकर्षण है। (विस्मय, भय, इत्यादि भाव विशेषतः उत्पन्न होकर अद्भुत, भयानक रस का निर्माण करते हैं।)[८४]

स्थापत्य कला की प्रमुख विशेषता दीर्घकालीन स्थायित्व है। इस कला की पूर्णता चित्र कला तथा शिल्प कला के सहयोग से है।

- **शिल्प :**

शिल्प को मूर्ति कला भी कहा गया है। उसकी कृतियाँ आंतरिक भावना तथा ज्ञान का मूर्त स्वरूप होती है। शिल्प कला अनंग मूर्त पदार्थों से अंतर्ज्ञान के अनुसार चित्ताकर्षक प्रतिमाओं का निर्माण करती है। यह कला आंतरिक भावना तथा ज्ञानरूप के केवल एक क्षण को ही प्रकट कर सकती है।[८५]

मूर्त प्राकृतिक तथा (कालक्रम से) अप्राकृतिक (भी) पदार्थ जैसे कि पत्थर, मिट्टी, काष्ठ, धातुएँ, लाख, मोम, प्लास्टर ऑफ़ पेरिस, इत्यादि शिल्प कला के माध्यम हैं। आंतरिक ज्ञान तथा प्रेरणा को अभिव्यक्त करने के लिए इन माध्यमों को सुन्दर तरीके से आकारित करके कृति का निर्माण किया जाता है।

प्राचीन संस्कृत साहित्य में 'शिल्प' संज्ञा का प्रयोग 'कला' के पर्याय के रूप में हुआ है, जो कालक्रम से सिर्फ़ मूर्ति कला के लिए होने लगी। ऋग्वेद, उपनिषद, पुराणों, रामायण, महाभारत के उपरांत 'मयशिल्पशास्त्र', 'मानसार', 'समरांगणसूत्रधार', 'शिल्परत्न', 'अपराजितपृच्छा', 'मानसोल्लास', 'शुक्रनीतिसार', इत्यादि ग्रंथों में शिल्प कला का सुन्दर, विस्तृत वर्णन किया गया है। इष्टदेव की आराधना हेतु मनुष्य ने उनकी प्रतिमा का निर्माण किया, जिसके प्रमाण हरप्पा तथा मोहन-जो-दड़ो के अवशेषों में भी मिलते हैं।[८६]

शिल्प कला के सृजन में धर्म का विशेष प्रभाव रहा है, विशेषतः भारतीय शिल्प में। यहाँ धार्मिक प्रतिमाओं का प्रमाण अत्याधिक है, जिन्हें ईश्वर के प्रतीक के रूप में माना जाता है। अरस्तु तथा लोजाइनस के अनुसार शिल्प कला द्वारा आश्चर्य तथा भय - अद्भुत एवं भयानक रस की अनुभूति, अभिव्यक्ति अधिक होती है। वैसे भारतीय संस्कृति में मूर्ति कला में श्रृंगार तथा भक्ति रस का निरूपण प्रचूर मात्रा में हुआ है। इजिप्त में मृतकों की प्रतिमा बनाने का रिवाज़ था। ऐसी मान्यता थी, कि ऐसा करने पर मृतक की आत्मा वहाँ रहती है। चीनी मान्यता अनुसार मृत व्यक्ति का

शिल्प उसे समाज से संलग्न रखता है। उल्लेखनीय है, कि शिल्प कलाकृति एक ही घटना को अभिव्यक्त करती नज़र आने के बावजूद भी कई अन्य संबंधित प्रसंगों का प्रभाव उस पर होता ही है।[८७]

किसी स्मृति को जीवित बनाए रखने के लिए, कायम करने के लिए भी शिल्प कला का उपयोग अधिक हुआ है।

शिल्प कला का विकास बड़े पैमाने पर स्थापत्य कला के साथ हुआ दृश्यमान होता है। दोनों के माध्यमों में भी काफ़ी साम्य है। प्राचीन विद्वानों द्वारा शिल्प कला को स्थापत्य कला का हिस्सा माना गया था, जो आज स्वतंत्र कला मानी जाती है।[८८]

- **चित्र :**

चित्र कला को स्वच्छंद कोटि की कलाओं में प्रथम माना गया है। उसकी कृतियाँ आंतरिक भावना तथा ज्ञान का सतह परिमाण में दृश्य रूप है। चित्र कला अंतर्ज्ञान के अनुसार दृश्य का निर्माण करती है। यह कला आंतरिक ज्ञानरूप के केवल एक ही क्षण को प्रकट कर सकती है।[८९]

रेखा तथा रंग चित्र कला के मूलभूत माध्यम हैं। इनके लिए कोयला, रंगीन मिट्टी, चूना, वनस्पति, खनिज, धातुएँ, इत्यादि के बाद कृत्रिम रंगों तथा पेन्सिल-रेखा का उपयोग किया गया। आंतरिक ज्ञान तथा प्रेरणा को अभिव्यक्त करने के लिए इन माध्यमों को सुन्दर तरीके से दृश्य में आलेखित करके कृति का निर्माण किया जाता है।

ऋग्वेद, विष्णुधर्मोत्तर पुराण, मानसोल्लास, समरांगणसूत्रधार, शिल्परत्न, काश्यपशिल्प, महाभारत, विनयपिटक, शुक्रनीतिसार, कामसूत्र, इत्यादि ग्रंथों के उपरांत 'दूतवाक्य', 'मृच्छकटिका', 'शाकुन्तल', 'मालविकाग्निमित्र', 'उत्तररामचरित', इत्यादि कृतिओं में चित्र कला का उल्लेख एवं विस्तृत वर्णन किया गया है। अमरकोश टीकाकार भानुजी दीक्षित के अनुसार : "चित्तं त्रायते इति चित्रम्" - अर्थात्, जो चित्त का रक्षण करे, वह चित्र। अन्य विद्वानों द्वारा 'चित्तं राति इति चित्रम्" ऐसा भी कहा गया है - अर्थात्, जो चित्त को आकर्षित करे, वह चित्र। 'विष्णुधर्मोत्तर पुराण' में चित्र को श्रेष्ठ कला कहा गया है। मार्कंडेय मुनि ने भी उसे सर्वोच्च स्थान दिया है।[९०]

प्राचीन चीनी संस्कृति में मृतक के चित्र द्वारा उसे समाज से संलग्न रखा जाता था। ऐसा माना जाता था, कि रूप तथा गुण दोनों को दर्शाने का श्रेष्ठ माध्यम चित्र कला है।[९१]

भाषा की उत्पत्ति से पूर्व देखी हुई चीज़ या कल्पना को आकृति के माध्यम से अभिव्यक्त करने के सिलसिले से चित्र कला का उद्भव माना जाता है। कालक्रम से उससे 'लिपि' बनी। चित्र कला का उपयोग प्राचीन काल से किसी भी चीज़ की सजावट हेतु करने का चलन बड़े पैमाने पर रहा है।

प्लेटो के अनुसार चित्र कला प्राकृतिक या मानवसर्जित दृश्य पदार्थों का अनुकरण करने का, उन्हें दर्शाने का उत्कृष्ट तरीका है।[९२]

चित्र कला को साधना के स्थानों पर धार्मिक प्रेरणा का माध्यम बनाकर उपयोग में लिया गया। अजंता-गुफ़ाओं के चित्र इसका प्रमाण है। यह कला स्थूल तथा सूक्ष्म के मध्य की कला है। यह कला साहित्य (काव्य) तथा संगीत जैसी अमूर्त कलाओं के (काल्पनिक) मूर्त स्वरुप को भी अभिव्यक्त कर सकती है। भरतमुनि ने चित्र कला को 'दृश्यकाव्य' कहा है।[९३]

निश्चित क्षण विशेष को अभिव्यक्त करती होने के बावजूद भी इसकी कृति आसपास की घटनाओं को अपने में संजोये हुए है। कुछ विद्वानों ने इसे 'अचल' मानने से इनकार भी किया है।[९४]

चित्र कला का उपयोग स्थापत्य (वास्तु) एवं शिल्प (मूर्ति) कला में भी प्रचुर प्रमाण में हुआ है। मोहन-जो-दड़ो, हड़प्पा, इत्यादि प्राचीन संस्कृति के अवशेषों में इस कला की कृतियाँ प्राप्य है।[९५]

प्राचीन विद्वानों द्वारा चित्र कला को स्थापत्य कला का हिस्सा माना गया था, जिसे वर्तमान समय में स्वतंत्र कला का स्थान दिया गया है।[९६]

- **साहित्य :**

साहित्य को काव्य कला भी कहा गया है। उसके अंतर्गत गद्य, पद्य तथा नाट्य समाविष्ट है। उसे स्वच्छंद कोटि की कलाओं में सर्वोपरि माना गया है। उसकी कृतियाँ आंतरिक भावना तथा ज्ञान का शाब्दिक रुप हैं। वेदों में अन्य कलाओं की अपेक्षा संगीत तथा साहित्य का विवेचन अधिक मनोयोगपूर्वक करके उसे कला नहीं, बल्कि दैवी-प्रेरणा से उत्पन्न विद्या माना गया है। इस कला में मूर्त की अपेक्षा अमूर्त तत्त्व का स्थान अधिक है।[९७]

शब्द साहित्य कला का मूलभूत माध्यम है। आंतरिक ज्ञान तथा प्रेरणा को अभिव्यक्त करने के लिए इस माध्यम को सुन्दर तरीके से श्राव्य या पाठ्य रूप में निबद्ध करके कृति का निर्माण किया जाता है। साहित्य भाषा पर आधारित कला होने से भाषाज्ञान उसके लिए आवश्यक है।

प्राचीन संस्कृत-शास्त्रों में साहित्य कला के संदर्भ में सर्वाधिक ग्रंथ उपलब्ध हैं। वास्तव में वेद, पुराण, उपनिषद, धर्म-ग्रंथ, महाभारत, रामायण, इत्यादि साहित्य की ही कृति हैं, तथा उनमें इस कला का उल्लेख तथा वर्णन भी है। 'पाणिनीय शिक्षा' में कहा गया है, कि आत्मा तथा बुद्धि का सायुज्य, मेल मन में कुछ अभिव्यक्त करने की इच्छा को जन्म देता है, जो वाणी स्वरूप में प्रकट होता है। विद्वानों ने इसे दैवी मानते हुए 'शब्दब्रह्म' कहा है।[९८]

बृहदारण्यक उपनिषद में साहित्य (तथा संगीत) को परमात्मा की अभिव्यक्ति बताया गया है।[९९]

'भरतनाट्यशास्त्र' के अंतर्गत भरतमुनि ने नाट्य को काव्य (साहित्य) का ही एक रूप माना है। भरतमुनि तथा अन्य विद्वानों ने नाट्य को प्रधान तथा अन्य को गौण कला माना है।[१००]

पाश्चात्य विद्वान डेस्कार्टस के अनुसार साहित्य विशिष्ट कल्पना-जगत में ले जाने वाली सर्वाधिक माधुर्यसभर विधा है। उन्होंने अभ्यास की अपेक्षा स्फूरणा, प्रेरणा को महत्त्वपूर्ण माना है।

बामगार्टन के मतानुसार (अर्थ के संदर्भ में) स्पष्ट होते हुए भी (संवेदना के संदर्भ में) अस्पष्ट विधा है। उनके मतानुसार साहित्य की कृति उत्कृष्ट भावमय अभिव्यक्ति है।

प्लेटो के मतानुसार साहित्य में पात्र के संवाद इस तरह से होना आवश्यक है, जिससे वे वाकई में उसी पात्र द्वारा उद्भवित मेहसूस हो। साहित्य में भी अन्य कलाओं की तरह तार्किकता को अत्याधिक स्थान नहीं है, इसे प्लेटो ने भी मान्यता दी है।[१०१]

ललित कलाओं में साहित्य (काव्य) ऐसी विधा है, जिसमें 'अर्थ' की संभावना अत्याधिक है। पर भट्ट लोलट जैसे विद्वान का कथन है, कि सिर्फ़ सार्थकता पर्याप्त नहीं, क्योंकि यह ललित कला है, उसमें सरसता, सुन्दरता, (संवेदना) आवश्यक है।[१०२]

सार्थकता के कारण बुद्धि पर इस कला का प्रभाव अति-शीघ्र होता है। कान्ट ने उसे श्रेष्ठतम कला माना है।

साहित्य प्राथमिक स्तर पर गद्य-पद्य के रूप में श्राव्य या पाठ्य स्वरुप में है। जब उसे अभिनय के (आंगिक, वाचिक, आहार्य तथा सात्त्विक) प्रकारों द्वारा दृश्य-श्राव्य रूप में प्रस्तुत किया जाए, तब उसकी नाट्य विधा अस्तित्त्व में आती है। नाट्य को दृश्य तथा श्राव्य का संश्लिष्ट रूप माना गया है। उसे 'दृश्य-काव्य' भी कहा गया है। उसे काव्य (साहित्य) की सर्वश्रेष्ठ विधा माना गया है। भूतकाल की घटनाओं का प्रत्यक्षीकरण करने के लिए नाट्य श्रेष्ठ कला है।[१०३]

साहित्य भाषा पर आधारित कला होने से उसके लिए भाषाज्ञान अनिवार्य है। कालक्रम से भाषा लुप्त होने पर इसकी कृतियाँ लुप्त हो जाने की संभावना इस कला की मर्यादा है। भाषांतर से सिर्फ़ उनकी झलक मिल सकती है, जो मूल कृति के बराबर नहीं हो सकती।

- **संगीत :**

"गीतं वाद्यं तथा नृत्यं त्रयं संगीतमुच्यते।" अर्थात्, गायन, वादन तथा नर्तन क्रिया का समन्वय संगीत कला है। ये तीनों कलाओं को संगीत के अंतर्गत माना गया है। संगीत के लिए 'तौर्यत्रिक' संज्ञा भी है। फ़ारसी में उसे 'इल्मे मुसीकी' या 'इल्मे मुसाकी' तथा अंग्रेज़ी में 'म्युज़िक' कहा गया है।[१०४]

संगीत स्वच्छंद कोटि की कलाओं में मध्यम (चित्र तथा साहित्य के बीच की) कक्षा की कला मानी गई है। उसकी कृतियाँ आंतरिक भावना तथा ज्ञान का स्वर (नाद) मय, लयबद्ध रूप है। वेदों में साहित्य की तरह संगीत को भी केवल कला न मानते हुए दैवी-प्रेरणा से उत्पन्न विद्या बताया गया है। संगीत में मूर्त की अपेक्षा अमूर्त तत्त्व को अधिक स्थान है।[१०५]

स्वर (नाद) एवं लय संगीत कला के मूलभूत माध्यम हैं। गायन विधा में शब्द तथा नर्तन विधा में अभिनय भी माध्यम के रूप में विद्यमान हैं। आंतरिक प्रेरणा को इन माध्यमों में सुन्दर तरीके से गठित कर श्राव्य तथा दृश्य (नर्तन) रूप में कलाकृति का निर्माण किया जाता है। नाद को अलौकिक तत्त्व मानते हुए 'नादब्रह्म' कहा गया है।

मोहन-जो-दड़ो संस्कृति के अवशेषों से ज्ञात हुआ है, कि भारतीय समाज में वेद कालीन संस्कृति से पूर्व भी संगीत का चलन था। ऋग्वेद की ऋचाओं को स्वरबद्ध रूप में गाने की पद्धति सामवेद में बताई गई है, जिसे 'सामगान' कहा गया है। 'नारदीय शिक्षा' को संगीत का प्राचीनतम पुस्तक माना गया है। 'ऋक्प्रतिशाख्य', शतपथब्राह्मण', इत्यादि ग्रंथों तथा 'गांधर्ववेद' जैसे उपवेद में इस कला के शास्त्र की चर्चा है। तत्कालीन संगीत ग्रंथों में 'भरतनाट्यशास्त्र' अत्याधिक सुस्पष्ट एवं विस्तृत रहा, जिसे 'पंचमवेद' की उपाधि दी गई तथा उसके आधार पर सारंगदेवकृत 'संगीत रत्नाकर', रामामात्यकृत 'स्वरमेल कलानिधि', सोमनाथकृत 'राग विबोध',

अहोबलकृत 'संगीत पारिजात', दामोदरकृत 'संगीत दर्पण', इत्यादि ग्रंथ रचे गए। 'ऋग्वेद', 'रामायण', 'महाभारत', 'वायुपुराण', 'विष्णुधर्मोत्तरपुराण', 'मार्कंडेयपुराण', इत्यादि में ग्रंथों में भी इस कला का उल्लेख एवं वर्णन है। भास, कालिदास, इत्यादि संस्कृत कविओं ने भी संगीत कला के संबंध में लिखा है। 'संगीत रत्नाकर' ग्रंथ में शिव-पार्वती, ब्रह्मा, विश्वावसु, नारद, रंभा, आंजनेय, विष्णु, सरस्वती, कृष्ण, स्वाति, भरत, मतंग, इत्यादि को संगीत से संलग्न बताया गया है। भारतीय संस्कृति में नाद को परमब्रह्म के साक्षात्कार का सरल एवं मधुर माध्यम माना गया है। सामगान का प्रयोग ईश्वर-उपासना के लिए होता था तथा उसी सिलसिले को जारी रखते हुए भारत में ईश्वर-आराधना में हमेशा संगीत को स्थान दिया गया। 'संगीत भाष्य' में नाद के लिए कहा गया है, कि :

"सुखिनि सुखनिधानं दुखितानां विनोदः श्रवणहृदयहारी मन्मथस्याग्रदूतः।
अतिचतुरसुगम्यो वल्ल्बभः कामिनीनां जयति जयति नादः पंचमश्चोपवेदः।।"

अर्थात्, जो सुखी को अधिक सुख तथा दु:खी को आनंद (आश्वासन) प्रदान करने वाला है; जिसका श्रवण हृदय को आकर्षित करता है; जो कामदेव का दूत है; चतुर मनुष्य को सरल-प्राप्य, सुगम है; स्त्रिओं को प्रिय है; तथा पाँचवा उपवेद है; उस नाद का जय हो ![१०६]

पाश्चात्य विद्वान शोपेनहावर ने संगीत को तमाम कलाओं की पराकाष्ठा माना है; गूढ़, आंतरिक रहस्यों के पार्थिव अवतरण का माध्यम माना है। उनके अनुसार संगीत कला मनुष्य के उपरांत नक्षत्र, अणु-परमाणु, प्राणी-जीवन, इत्यादि को भी प्रभावित करती है। संगीत का वनस्पति पर भी हकारात्मक असर होता है, यह सिद्ध हो चूका है। यह कला मनुष्य में अबाल-वृद्ध सभी को आकर्षित करती है।[१०७]

भाषा की उत्पत्ति से पूर्व मनुष्य ने स्वयं के गले तथा अन्य पदार्थों की ध्वनि तथा इशारे एवं हाव-भाव से भावनाओं को अभिव्यक्त करने का प्रयास किया, जिससे

कालक्रम से अनुक्रम से गायन, वादन एवं नर्तन कला का जन्म हुआ, ऐसा अनुमान तर्कपूर्ण है। संगीत के लिए सर्वप्रथम 'गांधर्व' एवं तत्पश्चात 'गान' और 'गीत' शब्द का प्रयोग हुआ। संगीत की भावाभिव्यक्ति देश-काल के बंधन में सीमित नहीं है, अतः उसे 'Universal language' कहा गया है।

कुछ विद्वानों ने संगीत को आशयरहित कला माना है, अर्थात् उसमें संवेदना निहित है; पर स्पष्ट अर्थ, आशय नहीं है। पर अन्य मतानुसार उसमें अर्थ को भी स्थान है।

जर्मन कवि गेटे ने संगीत को विज्ञान तथा दर्शन से उच्च माना है। प्लेटो का अभिप्राय है, कि शरीर के लिए व्यायाम जितना महत्त्व आत्मा के लिए संगीत का है। स्पेंगर ने संगीत को मानवीय बोध की सर्वश्रेष्ठ कला माना है। संगीत का प्रभाव सीधा आत्मा पर मानते हुए भारतीय विद्वानों ने उसे ईश्वर साक्षात्कार का सटीक माध्यम माना है।[१०८]

कला का माध्यम जितना सूक्ष्म हो, उतनी कला उच्च स्तरीय मानी जाती है। इस तर्क के अनुसार, संगीत के माध्यम स्वर-लय अति-सूक्ष्म होने से संगीत को सर्वश्रेष्ठ कला माना गया है।[१०९]

पारंपारिक रूप से गायन-वादन-नर्तन तीनों विधाओं का समावेशन 'संगीत' के अंतर्गत किया गया है, पर कुछ विद्वानों ने नर्तन को स्वतंत्र कला भी माना है। संगीत स्वर-लय से बनी विधा है, जिसमें दोनों पहलूओं का महत्त्व है ही, मगर फिर भी गायन में लय की अपेक्षा स्वर तथा नर्तन में स्वर की अपेक्षा लय का महत्त्व कुछ प्रमाण में अधिक है। वादन के अंतर्गत स्वर-वाद्य में स्वर तथा लय-वाद्य में लय का महत्त्व अधिक है। गायन तथा वादन विधा समय परिमाण से संबंधी है, जबकि नर्तन विधा समय के उपरांत स्थल परिमाण से भी संबंध रखती है। गायन-वादन श्राव्य कला है, जबकि नर्तन दृश्य-श्राव्य कला है। वैसे हर ललित कला उसमें आवश्यक

समर्पण एवं एकाग्रता के कारण ध्यान का एक स्वरुप मानी जाती है, परंतु (विशेषतः भारतीय) नर्तन विशिष्ट आंगिक चेष्टाओं के कारण आसन-प्राणायाम से भी अत्यंत करीबी माना जाता है। संगीत की गायन तथा नर्तन विधा ने साहित्य कला का काफ़ी उपयोग किया है।

कविवर रवीन्द्रनाथ टागोर द्वारा संगीत को कला का शुद्धतम रूप एवं सौन्दर्य की अत्याधिक प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति कहा गया है। पाश्चात्य विद्वान हेगल ने संगीत को आत्मा के सबसे निकट माना है। 'संगीत पारिजात' में लिखा गया है :

"देवस्य मानवों गानं वाद्यं नृत्यमतान्द्रितः
कुर्य्याहिष्णों प्रसादार्थमिति शास्त्रे प्रकीर्तितम।"

अर्थात्, मनुष्य द्वारा तल्लीनता से किया गया गायन, वादन तथा नर्तन भगवान को प्रसन्न करता है। श्री अरविंद ने संगीत को आंतरिक जीवन, धार्मिक भावनाओं से संलग्न आध्यात्मिक कला बताया है।[११०]

श्री अरविंद ने कहा है, कि संगीत संवेदनाओं को गहन बनाता है तथा उन्हें परस्पर संवादित करता है। श्री माताजी का कथन है, कि संगीत के द्वारा भक्ति एवं अभीप्सा का विकास संभव है तथा संगीत व्यक्ति को साक्षात्कार के लिए सक्षम कर सकता है।[१११]

- **ललित कलाओं का परस्पर संबंध :**

सभी ललित कलाओं में साम्य यह है, कि वे मानव-मन की संवेदना-भावना की अभिव्यक्ति है। भेद यह है, कि उनके माध्यम भिन्न-भिन्न हैं। स्पष्ट है, कि इन कलाओं में कुछ साम्य है, तो कुछ भेद। विद्वानों ने इनका परस्पर संबंध स्पष्ट करने हेतु कई जगह इनकी परस्पर तुलना की है।

मानवीय भावों की अभिव्यक्ति की बढ़ती हुई क्षमता के आधार पर विद्वानों ने कलाओं को इस क्रम में दर्शाया है : स्थापत्य, शिल्प, चित्र साहित्य एवं संगीत। उल्लेखनीय है, कि हेगल जैसे पाश्चात्य विद्वानों ने साहित्य को सर्वोच्च कला माना है, जबकि भारतीय विद्वानों ने संगीत को।[११२]

सौन्दर्यवृद्धि हेतु ललित कलाएँ परस्पर सहायक के रूप में उपयुक्त होती आई है। इसके कई उदाहरण मौजूद है। जैसे कि, स्थापत्य में शिल्प एवं चित्र का उपयोग होता है; शिल्प में (रंगों के जरिये) चित्र का उपयोग होता है; साहित्य में वर्णित विषय-वस्तुओं पर शिल्प एवं चित्र की कृतियाँ रची जाती हैं; संगीत के स्वर तथा राग-रागिनीओं के शास्त्र पर चित्र बनाए गए हैं; संगीत (की गायन तथा नर्तन विधा) ने साहित्य का उपयोग किया है; साहित्य (की पद्य तथा नाट्य विधा) ने संगीत का उपयोग किया है; शिल्प कला में नर्तन की अंग-भंगिमाओं का निरूपण होता है; नर्तन में शिल्प कला में आलेखित भंगिमाओं का अनुसरण होता है; इत्यादि। (साहित्य तथा संगीत जैसी अमूर्त कलाओं को मूर्त स्वरुप प्रदान करने के लिए शिल्प तथा चित्र जैसी कलाओं का प्रयोग हुआ है।) कई बार कलाकार द्वारा प्रयास न करने पर भी रसिक के मन:पटल पर कलाएँ ऐक्य साधती हैं, जैसे कि साहित्यिक वर्णन उसके मन में एक दृश्य-चित्र का निर्माण कर सकता है।

हेगल तथा शेलींग जैसे विद्वानों ने स्थापत्य कला को 'फ्रोज़न म्युज़िक' - स्थिर संगीत - कहा है। सुंग कालीन चित्रकार चाउ शुन का कथन है, कि लेखन (साहित्य)

कला तथा चित्र कला वस्तुतः एक ही है। अन्य पाश्चात्य विद्वान कोरलाइल ने संगीतमय विचार को ही काव्य माना है। आलफ्रेड, ऑस्टिन के अनुसार संगीतविहीन शब्दों को काव्य (पद्य) नहीं कहा जा सकता। फूलर ने काव्य (साहित्य) को शाब्दिक संगीत तथा संगीत को ध्वनिरूप में काव्य (साहित्य) माना है।[११३]

ललित कलाओं का सह अस्तित्त्व सौन्दर्यबोध को समृद्ध करता है। उनकी परस्पर सहाय उन्हें अधिक भोग्य बनाती है, जिससे वे अधिक प्रचलित होती हैं। अतः यह कहना अनुचित नहीं है, कि ललित कलाएँ स्वतंत्र होकर भी एकमेक की पूरक हैं। उनका संबंध परस्परावलंबन का है, जो उचित रूप से होने पर कृति के सौन्दर्य, असरकारकता, लोकप्रियता, आयु, इत्यादि में वृद्धि करता है।

प्रत्येक कला के अपने विशिष्ट क्षेत्र हैं; भावाभिव्यक्ति के ढंग, माध्यम हैं; स्वरुप हैं और विषय-वस्तु भी हैं। भरतनाट्यशास्त्र में हरेक कला को 'नाट्य' में उपयुक्त तथा उसीका हिस्सा बताया गया है।

१.२ : ललित कलाओं में अनिवार्य तत्त्व रस

१.२.१ : रस का प्राथमिक परिचय :

चारू कलाओं में 'सुन्दर' की उपस्थिति निश्चित है, जो उन्हें कारू कलाओं से भिन्न करती है। 'सुन्दर' तत्त्व की विवेचना, विश्लेषण करते हुए विद्वानों ने एक शास्त्र रचा, जो 'सौन्दर्यशास्त्र' कहलाया। भिन्न-भिन्न संस्कृति में विभिन्न मतानुसार सौन्दर्यशास्त्रीओं ने कई महत्त्वपूर्ण सिद्धांत दिए हैं, जिसने सौन्दर्यशास्त्र को समृद्ध बनाया है। भारतीय सौन्दर्यशास्त्र में ऐसा एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण सिद्धांत है - रस सिद्धांत।

मानव-मन के संवेदन, भावनाओं का परिष्कृत स्वरुप 'रस' संज्ञा से जाना जाता है। 'रसस्यतेसौति रसः।" - अर्थात्, जिससे आस्वादन मिले, वह 'रस' है। सौन्दर्यशास्त्र के परिप्रेक्ष्य में 'रस' संज्ञा को प्रचलित करने का श्रेय भरतमुनि को जाता है, जिन्होंने 'नाट्यशास्त्र' के 'रससूत्र' में उसका विस्तृत वर्णन किया है। भरतमुनि के अनुसार मानव-मन के विभिन्न भाव, संवेदन, संयुक्त होकर रस तत्त्व का आविष्कार करते हैं। उनके अनुसार रस भावमूलक कलात्मक स्थिति है, आस्वाद पदार्थ है। (अन्य अर्थों में 'रस' संज्ञा जल, रूचि, खाद्य पदार्थ के स्वाद, इत्यादि के लिए भी उपयुक्त रही है।)[११४]

उपनिषदों में 'ब्रह्मैव रसः।', 'रसो वे सः। रसं ह्येवायं लाब्धानन्दी भवति।', इत्यादि कहा गया है - अर्थात्, ब्रह्म ही रस है; वही रस है, जिसे प्राप्त कर (जीवात्मा को) आनंद साध्य होता है। भारतीय विद्वानों ने रसानुभूति को ब्रह्मानंद की अनुभूति मानी है।[११५]

ललित कलाओं में अभिव्यक्त होने वाली संवेदना रसानुभूति एवं रसाभिव्यक्ति है। रस कलाकार एवं रसिक के मध्य का सेतु है, जो दोनों को भावनागत कृतकृत्यता प्रदान करके आध्यात्मिक परमानंद की प्राप्ति करवाता है।

मानव-मन में विद्यमान भावों को मुख्यतः नौ - ९ - प्रकारों में वर्गीकृत करके उनमें से नौ - ९ - रस की उत्पत्ति विद्वानों ने बताई है। ये रस इस प्रकार हैं : १) श्रुंगार, २) हास्य, ३) वीर, ४) अद्भुत, ५) रौद्र, ६) करुण, ७) भयानक, ८) बीभत्स, ९) शांत।

रस का मूल भावना है, जो स्वयंभू है। उल्लेखनीय है, कि रस भावनाओं का परिष्कृत रूप है, उनका मूलभूत रूप नहीं। अतः रस तत्त्व का तकनिकी पक्ष, उसका विस्तृत शास्त्र विद्वानों द्वारा दिया गया है।

"सत्त्वोद्रेकात अखण्ड स्वप्रकाशानन्द चिन्मयः
वेद्यान्तस्पर्श शून्यो ब्रह्मानन्द सहोदरः।"

अर्थात्, जहाँ रस की स्थिति होती है, वहाँ सत्त्वगुण का उद्रेक होता है और उस स्थिति में तमस-रजस गुण दब जाते हैं।[११६]

जीवन के अनुभव, भावनाएँ व्यक्तिगत होते हैं। उन्हें कलाकार द्वारा कला में स्थान देने पर वे सार्वभौम बनते हैं, सभी के लिए भोग्य, रुचिकर बनते हैं। यह रुचिकर तत्त्व ही 'रस' हैं।

वैदिक धारा के शीर्षस्थानीय उपनिषद में आनंद के मूर्त स्वरुप का 'रस' के रूप में प्रतिपादन किया गया है। उसे कलाओं का केवल प्रमुख तत्त्व ही नहीं, बल्कि एकमात्र आधार माना गया है। नाट्यशास्त्र में कहा गया है, कि 'नहि रसादृते कश्चिदर्थ: प्रवर्तते।' अर्थात्, रस के बिना कोई बात शुरू नहीं होती। वस्तुतः रस चित्तवृत्ति है। बिना चित्तवृत्ति के मनुष्य कोई भी कार्य करता नहीं। जब चित्तवृत्ति

अपने-पराये से उठकर सार्वत्रिक बनती है, सार्वजनिक स्वरुप धारण करती है, तब वह 'रस' कहलाती है। रस परिमित, मर्यादित भावों के बंधन से मुक्त है।[११७]

रस मानव जाति के अंतःकरण में वास करने वाली विशिष्ट भावनाओं का परमोत्कर्ष है। उन भावनाओं की पराकाष्ठा को ही शास्त्रज्ञों ने 'रस' कहा है। मानव किसी को प्रेम करता है और वह प्रेम भावना वृद्धिगंत होते-होते विवश करने की सीमा तक पहुँच जाए, तब श्रुंगार रस उत्पन्न होता है। इसी प्रकार अन्य भावनाओं से अन्य रस की उत्पत्ति होती है। मानव के अंतःकरण में अनेक भावनाएँ स्पष्ट, अर्धस्पष्ट तथा अस्पष्ट रूप में उत्पन्न होती है। तत्त्वतः नौ (९) भावनाएँ प्रमुख है और इन्हीं नौ (९) भावनाओं में अन्य भावनाएँ अंतर्भूत रहती हैं, ऐसा प्राचीन रसज्ञ शास्त्रकारों का मत है। भाव व रस इन दोनों का संबंध इतना घनिष्ठ है, कि भाव के बिना रस और रस के बिना भाव उत्पन्न ही नहीं हो पाते।

"न भाव ही नो रस्ते न भावोरस वर्जितः।"

ज्योतिर्विदों ने ग्रह अगणित होने पर भी मुख्य ग्रह नौ (९) मानकर उन्हें नाम दिये हैं, परंतु उनके साथ अनेक ग्रह संलग्न हैं, उसी प्रकार नौ मुख्य रस में अन्य कई भाव जुड़े हुए हैं।[११८]

विद्वानों ने रस की कल्पना आनंद के रूप में करते हुए इसे संपूर्ण कला प्रदर्शन के अंतिम और सर्वोच्च लक्ष्य के रूप में स्वीकार किया है।

रस को सत्-चित्त्-आनंद की संयुक्ति रूप माना गया है। सच्चिदानंद स्वरुप रस को केवल सौन्दर्य से उच्च कक्षा का माना गया है तथा भारतीय कला में न केवल सौन्दर्य, बल्कि रस तत्त्व को केन्द्ररूप, साररूप माना गया है। सामान्य जीवन के अनुभवों से विपरीत, रस देश-काल-पात्र से मुक्त होता है और इसी कारण वह व्यक्तिगत राग-द्वेष से परे है। 'अहं' या 'स्व' से विमुख होने पर रस तत्त्व की अनुभूति -

‘भोक्तृत्त्व’ - के साथ ‘साक्षित्त्व’ का अस्तित्त्व रहता है। इसीलिए पीड़ा की अभिव्यक्ति भी अंततः परमानंद तक ले जाती है।

१.२.२ : ललित कलाओं में रस की अनिवार्यता :

कला संबंधी पूर्वीय तथा पाश्चात्य मतों का सार यही है, कि (ललित) कला मानव मन के संवेदन, भावनाओं की सौन्दर्यमय अभिव्यक्ति है। कोलिंगवुड का समीकरण 'संवेदना → भाव → आविष्कार = कला'[११९] इसी बात को स्पष्ट करता है। कला का मूल संवेदना में तथा संवेदना के मूल अनुभव में निहित है, पर वह अपने मूलभूत रूप में नहीं है, उसे परिष्कृत करना कला-निर्मिति हेतु आवश्यक है। परिष्कृत अनुभव व्यक्त होने पर वैयक्तिक न रहकर सार्वत्रिक अनुभूति का रूप लेता है, जिसे 'रस' संज्ञा से जाना जाता है। स्पष्ट है, कि संवेदना रस तत्त्व के रूप में ललित कलाओं के माध्यम से अभिव्यक्त होती है। अतः इन तीनों (संवेदना-रस-कला) का संबंध घनिष्ठ है।

'संवेदना के मूलभूत रूप' से तात्पर्य है संवेदना जिसमें उत्पन्न होती है, वह स्वरुप। उदाहरण स्वरुप, कोई व्यक्ति क्रोध से लाल हो जाए, या भय से पीला पड़ जाए, वह नैसर्गिक रूप से प्रकट होनेवाली संवेदना है - वह कला नहीं है। मगर उसमें आवश्यक परिवर्तन के साथ प्रयासपूर्वक, सहेतुक सौन्दर्यपूर्ण ढंग से प्रस्तुत करने पर वह (रौद्र तथा भयानक) रस की कोटि में स्थान ग्रहण करती है। भावनाओं को कलाकृति में परिवर्तित करना ही कलाकार का कार्य है। (उल्लेखनीय है, कि अव्यक्त भाव में एक कष्टमयता निहित है, जो व्यक्त होने पर चेतना, सरलता, हल्केपन में परिवर्तित होता है।)

भरतमुनि ने रस को कला में प्रमुख, आस्वाद का तत्त्व माना है; कलाओं का लक्ष्य माना है।

आचार्य धनंजय तथा विश्वनाथ कविराज ने भावों के आस्वादन को 'रस' कहा है, जो कलाओं का हार्द है।[१२०]

आनंदमय चेतना से रस की अनुभूति तथा कला की उत्पत्ति मानी गई है।[१२१]

प्राचीन साहित्य में भी रस की कला से संलग्नता स्पष्ट करते उदाहरण मौजूद है। कविकुलगुरु महाकवि कालिदास ने 'विक्रमोर्वशीय' नाटक में भरतमुनि के आठ (८) रस तथा उनके इंद्र समक्ष (नाट्य) कला के माध्यम से प्रयोग का उल्लेख किया है। 'भरतनाट्यशास्त्र' में भी यही कथा का उल्लेख है।[१२२]

कुछ विद्वानों ने सौन्दर्यानुभूति तथा रसानुभूति को एक ही माना है; 'रस', 'सौन्दर्य' तथा 'आनंद' को समानार्थी बताया है। कुछ विद्वानों ने 'सौन्दर्य' को एक अनुभूति माना है, तथा उससे उत्पन्न आनंद को 'रस' माना है।[१२३]

रस की अभिव्यक्तिरूप कला का ध्येय मनुष्य को सांसारिक बंधनों से मुक्त कर सत्यम्, शिवम् तथा सुन्दरम् की ओर ले जाना है। लौकिक भावनाओं निर्मित रस अलौकिक आनंद की अनुभूति करवाता है, जिसके कारण कलाएँ भी अलौकिक बनी हैं। रस तत्त्व का सौन्दर्य आध्यात्मिक लोक में उदित होता है और कला के जरिये मूर्त रूप ग्रहण करता है। कला का रसास्वादन रसिक (प्रेक्षक/श्रोता) में चैतन्य का संचार करता है।

कला तथा कलाकार की समर्थता प्रेक्षक या श्रोता की रस-मय अवस्था से तय होती है। कला के जरिये उन्हें जितना अधिक रसास्वादन करा सके, उतना कलाकार अधिक पारंगत माना जाता है। रस कलाकार तथा रसिक के मध्य सेतु का कार्य करता है।

रस ललित कलाओं का मूलभूत घटक तत्त्व है। 'स-रस' कला ही ललित कला है, बिना रस तत्त्व के ललित कला संभव नहीं। विशेषतः भारतीय ललित कलाओं में रस को अविभाज्य अंग माना गया है।

कला की रचना केवल यांत्रिक क्रिया अथवा तकनिकी पक्ष की निपुणता ही न होकर मानसी सृष्टि अर्थात् कलाकार की भावना अथवा अंतर्बिम्ब की सृष्टि होती है। कला निर्माण के इस आधारभूत सिद्धांत का स्पष्ट निर्देश 'रामायण' में मिलता है :

"मनसैव कृतां लङ्का निर्मितां विश्वकर्मणा।"

अर्थात्, विश्वकर्मा ने मन से ही (समग्र) लंका (नगरी) का निर्माण किया।

सौन्दर्य के मूर्त रूप की रचना-प्रक्रिया के संबंध में सबसे अधिक मार्मिक संकेत कालिदास के काव्य में मिलते हैं :

" चित्रे निवेश्य परिकल्पितसत्त्वयोगार् रुपोच्चयेन मनसा विधिना कृता नु।
स्त्रीरत्नसृष्टिपरा प्रतिभाति सा मे धातुर्विभुत्वमनुचिन्त्य वपुश्च तस्था:।।"

भावार्थ यह है, कि पहले शकुन्तला की मानसिक कल्पना करके उसके पश्चात विधाता ने उसके रूप का निर्माण किया। यहाँ कलाकृति की रचना-प्रक्रिया का अत्यंत सटीक वर्णन किया गया है। कलाकार अपनी भावना के अनुरूप सौन्दर्य के उपकरणों का गठन करके कृति की रचना करता है। निर्माण का आधार तो उपकरण रहते ही हैं, परंतु उनका कला के रूप में परिणाम कलाकार की भावना के द्वारा ही संभव है। वास्तव में सौन्दर्य 'भाव' है, जिसका परिष्कृत, आनंदप्रद रूप 'रस' है। कला का आकर्षण ही रस है, कला-स्वादन वास्तव में रसास्वादन है। भाव-रस का मूर्तिमंत स्वरुप कला है, जिसकी परिपूर्णता उनसे ही संभव है।[१२४]

चाहे रस तत्त्व की कल्पना किये बिना भी कला-निर्मिति का प्रयास किया जाए, तब भी कलाकार के मन में जाग्रत-अजग्रत रूप से कोई न कोई चित्तवृत्ति का अस्तित्त्व तो निश्चितरूप से होगा ही। चित्तवृत्ति हरेक मनुष्य में सतत विद्यमान है ही, चाहे कलाकार हो या रसिक। अतः कलाकृति के सर्जन तथा श्रवण या दर्शन के समय चित्तवृत्ति का प्रभाव निश्चित है। परिणाम स्वरुप कोई नाम-विशेष न देने पर भी रस

तत्त्व की उपस्थिति निश्चित है, जो कि चित्तवृत्ति - मनोभावनाओं का परिष्कृत स्वरूप है। मनोदशा का प्रतिबिंब सर्जन में आता ही है। जब तक मनोदशा, चित्तवृत्ति है, तब तक रस की उपस्थिति निश्चित है।

वर्त्तमान समय में जिस प्रकार मनुष्य व्यक्तिगत उलझनों में फँसा है, उसमें रस - जो कि व्यक्तिगत सीमा, बंधनों से परे है, सामान्य भावनाओं की असामान्य परिष्कृति है, आत्मा की परितृप्ति है, उसकी उपस्थिति, उसका अस्तित्त्व अत्यंत लाभदायी, परितोषपूर्ण, आरामदायी, आनंदप्रद विदीत होता है। उसके प्रति जागरूक होना कलाकार की कला की उच्चता का कारण बनता है।[१२५]

स्पष्ट है, कि ललित कलाओं में रस तत्त्व की उपस्थिति आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी है। भावना की अभिव्यक्ति कला का कारण है। भावाभिव्यक्ति हेतु निर्मित कला में भाव के विकसित रूप रस का होना निश्चित ही है।

संदर्भ

१ शर्मा, स्वतंत्र. (२०१५). सौन्दर्य, रस एवं संगीत, द्वितीय आवृत्ति. अनुभव पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद, पृ. १२६।

२ कलिंगवुड, रोबिन ज्योर्ज. (१९७२). कला के सिद्धांत. अनुवाद पालीवाल ब्रजभूषण. राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, पृ. (झ)।

३ भट्ट मार्कंड. (१९५८). रूपप्रद कला. प्रकाशक : मार्कन्ड भट्ट, वडोदरा, पृ. ९३-९४, ९७, १११।

४ वही, पृ. ११४-११७, १२३।

५ वही, पृ. १२९-१३५, १५१।

६ वही, पृ. १३९-१४१, १५१।

७ वही, पृ. १७४, १७६-१७८, १८४।

८ Pandey, Kanti Chandra. (1972). Comparative Aesthetics, Volume II, Second revised edition. Chowkhamba Sanskrit series, Varanasi, P. 66.

९ नवनीत (अंक ३७, क्रमांक ६), (अक्तूबर २०१६). ISSN :2455-4162, पृ. २८।

१० शर्मा, स्वतंत्र. (२०१५). सौन्दर्य, रस एवं संगीत, द्वितीय आवृत्ति. अनुभव पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद, पृ. १२५।

११ कालरा श्रुति. (२०११). सौन्दर्यशास्त्र के मूलाधार. कनिष्क पब्लिशर्स, नई दिल्ली, पृ. ३८-३९।

१२ भार्गव, सरोज. (१९९९). सौन्दर्यबोध एवं ललितकलायें. कला प्रकाशन, वाराणसी, पृ. ६६।

१३ भट्ट मार्कंड. (१९५८). रूपप्रद कला. प्रकाशक : मार्कन्ड भट्ट, वडोदरा, पृ. १९२-१९३, १९७-१९८, २००।

१४ वही, पृ. १९४, २२१-२२२।

१५ वही, पृ. १९८, २००-२०१, २१५-२१७, २२२।

१६ वही, पृ. २१५, २२१-२२२, २२६-२३०।

१७ शर्मा, स्वतंत्र. (२०१५). सौन्दर्य, रस एवं संगीत, द्वितीय आवृत्ति. अनुभव पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद, पृ. १२७।

१८ भट्ट मार्कंड. (१९५८). रूपप्रद कला. प्रकाशक : मार्कन्ड भट्ट, वडोदरा, पृ. १८५, २१९।

१९ वही, पृ. १९९-२००, २०२-२०६, २०८।

२० वही, पृ. २१७-२१९।

२१ शर्मा, स्वतंत्र. (२०१५). सौन्दर्य, रस एवं संगीत, द्वितीय आवृत्ति. अनुभव पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद, पृ. १२५।

२२ कालरा श्रुति. (२०११). सौन्दर्यशास्त्र के मूलाधार. कनिष्क पब्लिशर्स, नई दिल्ली, पृ. ४०।

२३ शर्मा, स्वतंत्र. (२०१५). सौन्दर्य, रस एवं संगीत, द्वितीय आवृत्ति. अनुभव पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद, पृ. १२७।

२४ कालरा श्रुति. (२०११). सौन्दर्यशास्त्र के मूलाधार. कनिष्क पब्लिशर्स, नई दिल्ली, पृ. ४०।

२५ टॉल्स्टोय. (१९६६). कळा एटले शुं ?, द्वितीय आवृत्ति. संपादन एवं अनुवाद देसाई, मगनभाई प्रभुदास. परिवार प्रकाशन सहकारी मंदिर लिमिटेड, अमदावाद, पृ. ४०-४३।

२६ भट्ट मार्कंड. (१९५८). रूपप्रद कला. प्रकाशक : मार्कन्ड भट्ट, वडोदरा, पृ. २७६-१८६।

२७ वही, पृ. २९०-२९३, ३०३-३०४।

२८ Pandey, Kanti Chandra. (1972). Comparative Aesthetics, Volume II, Second revised edition. Chowkhamba Sanskrit series, Varanasi, P. 530-531, 533-534.

२९ भट्ट मार्कंड. (१९५८). रूपप्रद कला. प्रकाशक : मार्कन्ड भट्ट, वडोदरा, पृ. २००; शास्त्री, लक्ष्मीनाथ बद्रीनाथ. (१९५९). भारतीय सौन्दर्यशास्त्र, ललितकला विभाग ग्रंथमाळा. महाराजा सायजीराव यूनिवर्सिटी, वडोदरा, पृ. ८, १५८; भार्गव, सरोज. (१९९९). सौन्दर्यबोध एवं ललितकलायें. कला प्रकाशन, वाराणसी, पृ. ६७; शर्मा, स्वतंत्र. (२०१५). सौन्दर्य, रस एवं संगीत, द्वितीय आवृत्ति. अनुभव पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद, पृ. १३३;

३० राठोड, भारती गुलाबराय. (२००७). नृत्यकला : रसनिष्पत्ति अने रसानुभूति. प्रकाशक : प्रवीण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, राजकोट, पृ. १३।

३१ भट्ट मार्कंड. (१९५८). रूपप्रद कला. प्रकाशक : मार्कन्ड भट्ट, वडोदरा, पृ. २२२।

३२ नवनीत (अंक ३७, क्रमांक ६), (अक्तूबर २०१६). ISSN :2455-4162, पृ. १०।

३३ राठोड, भारती गुलाबराय. (२००७). नृत्यकला : रसनिष्पत्ति अने रसानुभूति. प्रकाशक : प्रवीण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, राजकोट, पृ. १४।

३४ Sharma, Premlata. (2000). Indian aesthetics and musicology. Editor Sharma U. Amnaya-Prakasana, Varanasi, P. 16-17, 25-26, 41-42.

३५ शर्मा, स्वतंत्र. (२०१५). सौन्दर्य, रस एवं संगीत, द्वितीय आवृत्ति. अनुभव पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद, पृ. ११४-११५।

३६ Pandey, Kanti Chandra. (1972). Comparative Aesthetics, Volume II, Second revised edition. Chowkhamba Sanskrit series, Varanasi, P. 154, 353.

३७ पाटणकर, राजाराम भालचंद्र. (१९८५). सौंदर्य मीमांसा. अनुवाद दलाल सुरेश, महेता जया तथा दवे जशवंती. एस. एन. डी. टी. विमेन्स यूनिवर्सिटी, मुंबई, पृ. १४१; पारेख, नगीनदास. (१९७६). क्रोचेनो कला विचार. गूर्जर ग्रंथरत्न कार्यालय, अमदावाद, पृ. ११।

३८ भार्गव, सरोज. (१९९९). सौन्दर्यबोध एवं ललितकलायें. कला प्रकाशन, वाराणसी, पृ. ५७-५८।

३९ भट्ट मार्कंड. (१९५८). रूपप्रद कला. प्रकाशक : मार्कन्ड भट्ट, वडोदरा, पृ. २१६, २२४।

४० शास्त्री, लक्ष्मीनाथ बद्रीनाथ. (१९५९). भारतीय सौन्दर्यशास्त्र, ललितकला विभाग ग्रंथमाळा. महाराजा सायजीराव यूनिवर्सिटी, वडोदरा, पृ. १६०-१६२।

४१ कालरा श्रुति. (२०११). सौन्दर्यशास्त्र के मूलाधार. कनिष्क पब्लिशर्स, नई दिल्ली, पृ. ९३।

४२ श्री अरविन्द तथा श्री माताजी. (२०१४). कला, भाग १. संपादन श्री विजय, अनुवाद श्री सुन्दरम् तथा पुराणी अंबालाल. श्री अरविन्द मेमोरियल ट्रस्ट, वडोदरा, पृ. २३-२५, २७।

४३ भट्ट मार्कंड. (१९५८). रूपप्रद कला. प्रकाशक : मार्कन्ड भट्ट, वडोदरा, पृ. २२९; कालरा श्रुति. (२०११). सौन्दर्यशास्त्र के मूलाधार. कनिष्क पब्लिशर्स, नई दिल्ली, पृ. ४३-४६।

४४ भट्ट मार्कंड. (१९५८). रूपप्रद कला. प्रकाशक : मार्कन्ड भट्ट, वडोदरा, पृ. १८६-१८७।

४५ कालरा श्रुति. (२०११). सौन्दर्यशास्त्र के मूलाधार. कनिष्क पब्लिशर्स, नई दिल्ली, पृ. ९६।

४६ भार्गव, सरोज. (१९९९). सौन्दर्यबोध एवं ललितकलायें. कला प्रकाशन, वाराणसी, पृ. ६२-६३।

४७ वही, पृ. ६४।

४८ कलिंगवुड, रोबिन ज्योर्ज. (१९७२). कला के सिद्धांत. अनुवाद पालीवाल ब्रजभूषण. राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, पृ. १०८-१०९।

४९ पाटणकर, राजाराम भालचंद्र. (१९८५). सौंदर्य मीमांसा. अनुवाद दलाल सुरेश, महेता जया तथा दवे जशवंती. एस. एन. डी. टी. विमेन्स यूनिवर्सिटी, मुंबई, पृ. १६९।

५० Sharma, Premlata. (2000). Indian aesthetics and musicology. Editor Sharma U. Amnaya-Prakasana, Varanasi, P. 59-60.

५१ शर्मा, स्वतंत्र. (२०१५). सौन्दर्य, रस एवं संगीत, द्वितीय आवृत्ति. अनुभव पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद, पृ. १२८; कालरा श्रुति. (२०११). सौन्दर्यशास्त्र के मूलाधार. कनिष्क पब्लिशर्स, नई दिल्ली, पृ. ४१।

५२ शास्त्री, लक्ष्मीनाथ बद्रीनाथ. (१९५९). भारतीय सौन्दर्यशास्त्र, ललितकला विभाग ग्रंथमाळा. महाराजा सायजीराव यूनिवर्सिटी, वडोदरा, पृ. ३।

५३ भार्गव, सरोज. (१९९९). सौन्दर्यबोध एवं ललितकलायें. कला प्रकाशन, वाराणसी, पृ. ६६।

५४ कालरा श्रुति. (२०११). सौन्दर्यशास्त्र के मूलाधार. कनिष्क पब्लिशर्स, नई दिल्ली, पृ. ४१; शर्मा, स्वतंत्र. (२०१५). सौन्दर्य, रस एवं संगीत, द्वितीय आवृत्ति. अनुभव पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद, पृ. १२८-१२९।

५५ कलिंगवुड, रोबिन ज्योर्ज. (१९७२). कला के सिद्धांत. अनुवाद पालीवाल ब्रजभूषण. राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, पृ. १२४।

५६ पाटणकर, राजाराम भालचंद्र. (१९८५). सौंदर्य मीमांसा. अनुवाद दलाल सुरेश, महेता जया तथा दवे जशवंती. एस. एन. डी. टी. विमेन्स यूनिवर्सिटी, मुंबई, पृ. १७५-१७८।

५७ शर्मा, स्वतंत्र. (२०१५). सौन्दर्य, रस एवं संगीत, द्वितीय आवृत्ति. अनुभव पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद. पृ. १३३-१३४।

५८ पाटणकर, राजाराम भालचंद्र. (१९८५). सौंदर्य मीमांसा. अनुवाद दलाल सुरेश, महेता जया तथा दवे जशवंती. एस. एन. डी. टी. विमेन्स यूनिवर्सिटी, मुंबई, पृ. २५७।

५९ भार्गव, सरोज. (१९९९). सौन्दर्यबोध एवं ललितकलायें. कला प्रकाशन, वाराणसी, पृ. ६७।

६० कालरा श्रुति. (२०११). सौन्दर्यशास्त्र के मूलाधार. कनिष्क पब्लिशर्स, नई दिल्ली, पृ. ६-७।

६१ वही, पृ. ८।

६२ टॉल्स्टोय. (१९६६). कळा एटले शुं ?, द्वितीय आवृत्ति. संपादन एवं अनुवाद देसाई, मगनभाई प्रभुदास. परिवार प्रकाशन सहकारी मंदिर लिमिटेड, अमदावाद, पृ. ४१।

६३ शास्त्री, लक्ष्मीनाथ बद्रीनाथ. (१९५९). भारतीय सौन्दर्यशास्त्र, ललितकला विभाग ग्रंथमाळा. महाराजा सायजीराव यूनिवर्सिटी, वडोदरा, पृ. १५८-१६०।

६४ टॉल्स्टोय. (१९६६). कळा एटले शुं ?, द्वितीय आवृत्ति. संपादन एवं अनुवाद देसाई, मगनभाई प्रभुदास. परिवार प्रकाशन सहकारी मंदिर लिमिटेड, अमदावाद, पृ. ४६।

६५ भार्गव, सरोज. (१९९९). सौन्दर्यबोध एवं ललितकलायें. कला प्रकाशन, वाराणसी, पृ. १९, ४०।

६६ टॉल्स्टोय. (१९६६). कळा एटले शुं ?, द्वितीय आवृत्ति. संपादन एवं अनुवाद देसाई, मगनभाई प्रभुदास. परिवार प्रकाशन सहकारी मंदिर लिमिटेड, अमदावाद, पृ. १६४, १९१, २०२, २०४।

६७ कलिंगवुड, रोबिन ज्योर्ज. (१९७२). कला के सिद्धांत. अनुवाद पालीवाल ब्रजभूषण. राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, पृ. २६१, २७६।

६८ पाटणकर, राजाराम भालचंद्र. (१९८५). सौंदर्य मीमांसा. अनुवाद दलाल सुरेश, महेता जया तथा दवे जशवंती. एस. एन. डी. टी. विमेन्स यूनिवर्सिटी, मुंबई, पृ. ३१३, १२८, १७४, १८३-१८५, १५०-१५१।

६९ कालरा श्रुति. (२०११). सौन्दर्यशास्त्र के मूलाधार. कनिष्क पब्लिशर्स, नई दिल्ली, पृ. ५६-५७, ८७।

७० कलिंगवुड, रोबिन ज्योर्ज. (१९७२). कला के सिद्धांत. अनुवाद पालीवाल ब्रजभूषण. राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, पृ. ४१, ४३-४४।

७१ पाटणकर, राजाराम भालचंद्र. (१९८५). सौंदर्य मीमांसा. अनुवाद दलाल सुरेश, महेता जया तथा दवे जशवंती. एस. एन. डी. टी. विमेन्स यूनिवर्सिटी, मुंबई, पृ. १६१, १८८, ४८०।

७२ श्री अरविन्द तथा श्री माताजी. (२०१४). कला, भाग १. संपादन श्री विजय, अनुवाद श्री सुन्दरम् तथा पुराणी अंबालाल. श्री अरविन्द मेमोरियल ट्रस्ट, वडोदरा, पृ. १८।

७३ श्री अरविन्द तथा श्री माताजी. (२०१४). कला, भाग २. संपादन श्री विजय, अनुवाद श्री सुन्दरम् तथा पुराणी अंबालाल. श्री अरविन्द मेमोरियल ट्रस्ट, वडोदरा, पृ. ६-७।

७४ श्री अरविन्द तथा श्री माताजी. (२०१४). कला, भाग १. संपादन श्री विजय, अनुवाद श्री सुन्दरम् तथा पुराणी अंबालाल. श्री अरविन्द मेमोरियल ट्रस्ट, वडोदरा, पृ. १९-२०, २३, २७।

७५ श्री अरविन्द तथा श्री माताजी. (२०१४). कला, भाग २. संपादन श्री विजय, अनुवाद श्री सुन्दरम् तथा पुराणी अंबालाल. श्री अरविन्द मेमोरियल ट्रस्ट, वडोदरा, पृ. १९-२०।

७६ भट्ट मार्कंड. (१९५८). रूपप्रद कला. प्रकाशक : मार्कन्ड भट्ट, वडोदरा, पृ. १३१; पाटणकर, राजाराम भालचंद्र. (१९८५). सौंदर्य मीमांसा. अनुवाद दलाल सुरेश, महेता जया तथा दवे जशवंती. एस. एन. डी. टी. विमेन्स यूनिवर्सिटी, मुंबई, पृ. ११९; Pandey, Kanti Chandra. (1972). Comparative Aesthetics, Volume II, Second revised edition. Chowkhamba Sanskrit series, Varanasi, P. 420-425.

७७ पाटणकर, राजाराम भालचंद्र. (१९८५). सौंदर्य मीमांसा. अनुवाद दलाल सुरेश, महेता जया तथा दवे जशवंती. एस. एन. डी. टी. विमेन्स यूनिवर्सिटी, मुंबई, पृ. २५७, ४४३, ४४७, ४७७-४७८, ४९७-४९८।

७८ भार्गव, सरोज. (१९९९). सौन्दर्यबोध एवं ललितकलायें. कला प्रकाशन, वाराणसी, पृ. ३९।

७९ पाटणकर, राजाराम भालचंद्र. (१९८५). सौंदर्य मीमांसा. अनुवाद दलाल सुरेश, महेता जया तथा दवे जशवंती. एस. एन. डी. टी. विमेन्स यूनिवर्सिटी, मुंबई, पृ. १२८।

८० अर्पण (अंक ३५६), (मई, २००६), पृ. ३८; श्री अरविन्द तथा श्री माताजी. (२०१४). कला, भाग १. संपादन श्री विजय, अनुवाद श्री सुन्दरम् तथा पुराणी अंबालाल. श्री अरविन्द मेमोरियल ट्रस्ट, वडोदरा, पृ. ६-७, १९।

८१ कालरा श्रुति. (२०११). सौन्दर्यशास्त्र के मूलाधार. कनिष्क पब्लिशर्स, नई दिल्ली, पृ. ६०-६१

८२ Pandey, Kanti Chandra. (1959). Comparative Aesthetics, Volume I, Second edition. Chowkhamba Sanskrit series, Varanasi, P. 582-585, शास्त्री, लक्ष्मीनाथ बद्रीनाथ. (१९५९). भारतीय सौन्दर्यशास्त्र, ललितकला विभाग ग्रंथमाळा. महाराजा सायजीराव यूनिवर्सिटी, वडोदरा, पृ. १४५-१४६।

८३ भट्ट मार्कंड. (१९५८). रूपप्रद कला. प्रकाशक : मार्कन्ड भट्ट, वडोदरा, पृ. १८९।

८४ शर्मा, स्वतंत्र. (२०१५). सौन्दर्य, रस एवं संगीत, द्वितीय आवृत्ति. अनुभव पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद, पृ. १३६-१३७।

८५ कालरा श्रुति. (२०११). सौन्दर्यशास्त्र के मूलाधार. कनिष्क पब्लिशर्स, नई दिल्ली, पृ. ६१।

८६ शास्त्री, लक्ष्मीनाथ बद्रीनाथ. (१९५९). भारतीय सौन्दर्यशास्त्र, ललितकला विभाग ग्रंथमाळा. महाराजा सायजीराव यूनिवर्सिटी, वडोदरा, पृ. १३६, १३८-१४०।

८७ भार्गव, सरोज. (१९९९). सौन्दर्यबोध एवं ललितकलायें. कला प्रकाशन, वाराणसी, पृ. ७२-७४।

८८ Pandey, Kanti Chandra. (1959). Comparative Aesthetics, Volume I, Second edition. Chowkhamba Sanskrit series, Varanasi, P. 603-604, 608.

८९ कालरा श्रुति. (२०११). सौन्दर्यशास्त्र के मूलाधार. कनिष्क पब्लिशर्स, नई दिल्ली, पृ. ६१।

९० शर्मा, स्वतंत्र. (२०१५). सौन्दर्य, रस एवं संगीत, द्वितीय आवृत्ति. अनुभव पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद, पृ. १३७; भार्गव, सरोज. (१९९९). सौन्दर्यबोध एवं ललितकलायें. कला प्रकाशन, वाराणसी, पृ. ६७; शास्त्री, लक्ष्मीनाथ बद्रीनाथ. (१९५९). भारतीय सौन्दर्यशास्त्र, ललितकला विभाग ग्रंथमाळा. महाराजा सायजीराव यूनिवर्सिटी, वडोदरा, पृ. ११८-१२१, १२८।

९१ भट्ट मार्कंड. (१९५८). रूपप्रद कला. प्रकाशक : मार्कन्ड भट्ट, वडोदरा, पृ. २७४।

९२ Pandey, Kanti Chandra. (1972). Comparative Aesthetics, Volume II, Second revised edition. Chowkhamba Sanskrit series, Varanasi, P. 19.

९३ भार्गव, सरोज. (१९९९). सौन्दर्यबोध एवं ललितकलायें. कला प्रकाशन, वाराणसी, पृ. ६७-६९।

९४ राठोड, भारती गुलाबराय. (२००७). नृत्यकला : रसनिष्पत्ति अने रसानुभूति. प्रकाशक : प्रवीण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, राजकोट, पृ. १९।

९५ शर्मा, स्वतंत्र. (२०१५). सौन्दर्य, रस एवं संगीत, द्वितीय आवृत्ति. अनुभव पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद, पृ. १३८।

९६ Pandey, Kanti Chandra. (1959). Comparative Aesthetics, Volume I, Second edition. Chowkhamba Sanskrit series, Varanasi, P. 604.

९७ कालरा श्रुति. (२०११). सौन्दर्यशास्त्र के मूलाधार. कनिष्क पब्लिशर्स, नई दिल्ली, पृ. ६२-६३।

९८ शास्त्री, लक्ष्मीनाथ बद्रीनाथ. (१९५९). भारतीय सौन्दर्यशास्त्र, ललितकला विभाग ग्रंथमाळा. महाराजा सायजीराव यूनिवर्सिटी, वडोदरा, पृ. १०८-११०।

९९ भार्गव, सरोज. (१९९९). सौन्दर्यबोध एवं ललितकलायें. कला प्रकाशन, वाराणसी, पृ. ८८।

१०० राठोड, भारती गुलाबराय. (२००७). नृत्यकला : रसनिष्पत्ति अने रसानुभूति. प्रकाशक : प्रवीण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, राजकोट, पृ. ७३; भट्ट मार्कंड. (१९५८). रूपप्रद कला. प्रकाशक : मार्कन्ड भट्ट, वडोदरा, पृ. २६२।

१०१ Pandey, Kanti Chandra. (1959). Comparative Aesthetics, Volume I, Second edition. Chowkhamba Sanskrit series, Varanasi, 19, 22-23, 207, 288-289.

१०२ शर्मा, स्वतंत्र. (२०१५). सौन्दर्य, रस एवं संगीत, द्वितीय आवृत्ति. अनुभव पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद, पृ. १४१।

१०३ भार्गव, सरोज. (१९९९). सौन्दर्यबोध एवं ललितकलायें. कला प्रकाशन, वाराणसी, पृ. ८६, ९३।

१०४ नायक डाह्यालाल शिवराम. (२००३). संगीत कलाधर, द्वितीय आवृत्ति. प्रवीण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, राजकोट, पृ. ५५।

१०५ कालरा श्रुति. (२०११). सौन्दर्यशास्त्र के मूलाधार. कनिष्क पब्लिशर्स, नई दिल्ली, पृ. ६१-६३।

१०६ Pandey, Kanti Chandra. (1959). Comparative Aesthetics, Volume I, Second edition. Chowkhamba Sanskrit series, Varanasi, P. 512; शास्त्री, लक्ष्मीनाथ बद्रीनाथ. (१९५९). भारतीय सौन्दर्यशास्त्र, ललितकला विभाग ग्रंथमाळा. महाराजा सायजीराव यूनिवर्सिटी, वडोदरा, पृ. १०८-११०, ११६-११७।

१०७ भट्ट मार्कंड. (१९५८). रूपप्रद कला. प्रकाशक : मार्कन्ड भट्ट, वडोदरा, पृ. १४२-१४३।

१०८ भार्गव, सरोज. (१९९९). सौन्दर्यबोध एवं ललितकलायें. कला प्रकाशन, वाराणसी, पृ.८२, ८४-८५।

१०९ कालरा श्रुति. (२०११). सौन्दर्यशास्त्र के मूलाधार. कनिष्क पब्लिशर्स, नई दिल्ली, पृ. ९४।

११० शर्मा, स्वतंत्र. (२०१५). सौन्दर्य, रस एवं संगीत, द्वितीय आवृत्ति. अनुभव पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद, पृ. १४२।

१११ अर्पण (अंक ३५६), (मई, २००६), पृ. ०-१।

११२ भार्गव, सरोज. (१९९९). सौन्दर्यबोध एवं ललितकलायें. कला प्रकाशन, वाराणसी, पृ. ३१; शर्मा, स्वतंत्र. (२०१५). सौन्दर्य, रस एवं संगीत, द्वितीय आवृत्ति. अनुभव पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद, पृ. १४१।

११३ गर्ग, लक्ष्मीनारायण. (२००१). गर्ग, लक्ष्मीनारायण. (२००१). भरतनाट्यम्. संगीत कार्यालय, हाथरस. संगीत कार्यालय, हाथरस, पृ. ८७; भट्ट मार्कंड. (१९५८). रूपप्रद कला. प्रकाशक : मार्कन्ड भट्ट, वडोदरा, पृ. १३३, ३०१; वसंत. (१९९४). संगीत विशारद, बीसवाँ संस्करण. संपादन गर्ग लक्ष्मीनारायण. संगीत कार्यालय, हाथरस, पृ. ५८९।

११४ शर्मा, स्वतंत्र. (२०१५). सौन्दर्य, रस एवं संगीत, द्वितीय आवृत्ति. अनुभव पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद, पृ. ८३-८५।

११५ शास्त्री, लक्ष्मीनाथ बद्रीनाथ. (१९५९). भारतीय सौन्दर्यशास्त्र, ललितकला विभाग ग्रंथमाळा. महाराजा सायजीराव यूनिवर्सिटी, वडोदरा, पृ. ३४-३५।

११६ शर्मा, स्वतंत्र. (२०१५). सौन्दर्य, रस एवं संगीत, द्वितीय आवृत्ति. अनुभव पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद, पृ. ११४।

११७ शर्मा, प्रेमलता. (१९८८). रस-सिद्धांत : मूल, शाखा, पल्लव और पतझड़, हीरानन्द शास्त्री स्मारक-व्याख्यानमाला-७. नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, पृ. xv, ११३।

११८ अग्निहोत्री आर. एम. (१९७३). संगीत निबंध. रामचन्द्र संगीतालय, ग्वालियर, पृ. ६९-७०, ७२।

११९ पाटणकर, राजाराम भालचंद्र. (१९८५). सौंदर्य मीमांसा. अनुवाद दलाल सुरेश, महेता जया तथा दवे जशवंती. एस. एन. डी. टी. विमेन्स यूनिवर्सिटी, मुंबई, पृ. १५०।

१२० राठोड, भारती गुलाबराय. (२००७). नृत्यकला : रसनिष्पत्ति अने रसानुभूति. प्रकाशक : प्रवीण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, राजकोट, पृ. ७५।

१२१ शर्मा, स्वतंत्र. (२०१५). सौन्दर्य, रस एवं संगीत, द्वितीय आवृत्ति. अनुभव पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद, पृ. ८७।

१२२ शास्त्री, लक्ष्मीनाथ बद्रीनाथ. (१९५९). भारतीय सौन्दर्यशास्त्र, ललितकला विभाग ग्रंथमाळा. महाराजा सायजीराव यूनिवर्सिटी, वडोदरा, पृ. ४१।

१२३ गर्ग, लक्ष्मीनारायण. (२००१). गर्ग, लक्ष्मीनारायण. (२००१). भरतनाट्यम्. संगीत कार्यालय, हाथरस. संगीत कार्यालय, हाथरस, पृ. ८४; कालरा श्रुति. (२०११). सौन्दर्यशास्त्र के मूलाधार. कनिष्क पब्लिशर्स, नई दिल्ली, पृ. ९८-९९

१२४ कालरा श्रुति. (२०११). सौन्दर्यशास्त्र के मूलाधार. कनिष्क पब्लिशर्स, नई दिल्ली, पृ. ६३-६४, ९८-१०१।

१२५ शर्मा, प्रेमलता. (१९८८). रस-सिद्धांत : मूल, शाखा, पल्लव और पतझड़, हीरानन्द शास्त्री स्मारक-व्याख्यानमाला-७. नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, पृ. १०८-११०, ११५-११७।